मानवता और विश्वप्रेम

मानवता और विश्वप्रेम

स्वामी रामतीर्थ

अरविन्द प्रकाशन, दिल्ली-६

स्वामी रामतीर्थ : एक दिव्य जीवन

तिलक, लाजपत राय, विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द, दयानन्द— ये थे वे चमत्कारी महापुरुष जिन्होंने उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हो कर अपनी अदम्य तेजस्विता, विलक्षण बुद्धि और अपराजेय संकल्प के बल पर देश की कायापलट कर दी थी और पुनर्जागरण की आँधी उत्पन्न की थी। इनमे स्वामी रामतीर्थ का जीवन अत्यन्त विलक्षण, प्रेरणादायक तथा स्फूर्तिदायक था।

स्वामी राम भारतीय पुनर्जागरण के मन्त्रदृष्टा थे। वे रहस्यवादी कवि, वेदान्ती एवं योगी होते हुए भी कर्मठता में ही जीवन की सफलता मानते थे। अपने काल के बावन लाख साधुओं में वे सुन्दरतम कमल की भाँति थे। वे बड़े से बड़े कष्टों मे भी हँसते रहते थे और कहा करते थे—"मैं हँसता हूँ और हँसूँगा, मेरी आत्मा हँसने के लिए बनी है।" स्वामी राम की आत्मा का ज्ञान और आनन्द उनके सम्मुख आने वाले व्यक्ति की सम्पूर्ण आत्मा में उतरने लगता था। उनके व्यक्तित्व में उन महान् आत्माओं का उच्च आदर्श दिखाई देता था, जिन्होंने किसी समय उपनिषदों की रचना की थी और वैदिक ऋचाओं का गान किया था। वे निर्भयता का पाठ पढ़ाते थे—

क्या तुम डरते हो ? किससे ?
ईश्वर से ? तब तो मूर्ख हो।
मनुष्य से ? यह तो कायरता है।
पंच भूतों से ? उनका सामना करो।
अपने आप से ? जानो अपने आप को—
कहो "अहं ब्रह्मास्मि"।

स्वामीजी ने उत्तर भारत में नव वेदान्त के प्रचार का शंखनाद किया।

कवि कविता किया करते हैं, परन्तु स्वामी राम के जीवन में वस्तुतः काव्य रस की धारा प्रवाहित होती दिखाई देती है। उनके स्वभाव में हमें एक उमड़ता हुआ क्षण-क्षण बाहर फूट पड़ने वाला आह्लाद दृष्टिगोचर होता है। कठिन से कठिन कष्ट और घोरतम अभाव में भी उन्हें विषाद छू नहीं पाता। मिसेज पौलिन विटमैन के शब्दों में—

"राम की भाषा ऐसी थी जैसे नन्हें से पवित्र हृदय बालक की होती है। वे चिड़ियों की, फूलों की, बहते हुए झरनों की और हिलती हुई वृक्ष की शाखाओं की भाषा में बातें करते थे।" वे इतने कोमल, प्रकृतिस्थित, शिशु सदृश शुद्ध और श्रेष्ठ, सच्चे और लगन वाले थे कि जो भी सच्चे हृदय वाला सत्य का जिज्ञासु उनके सम्पर्क में आया वह तृप्त हुए बिना न रहा। प्रत्येक व्याख्यान, प्रत्येक सत्संग के पश्चात् लोग उनसे प्रश्न करते थे और वे सदैव बड़ी स्पष्टता और संक्षेप से, बड़ी मधुरता और प्रेम से उनका उत्तर देते थे। वे आनन्द और शान्ति के भण्डार थे।"

स्वामी राम ने शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त की व्यावहारिक व्याख्या करके उसे भक्ति और कर्म तक ही नहीं, मानव सेवा तक व्यापक बनाया। जापान में, अमेरिका में, बगदाद में और लौट कर पुनः भारत में उन्होंने व्याख्यानों द्वारा अपने विचारों का प्रसार कर बुद्ध और शंकराचार्य की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा। वर्तमान नैतिक अधःपतन की निराशा भरी निशा में स्वामी राम का सन्देश अटल ध्रुवतारे के समान हमारा मार्ग-दर्शन करने में सक्षम हो सकता है।

● ● ●

भूमिका

भारत मे चिरन्तन काल से ही विश्व-मानवता अर्थात् मनुष्य मात्र के भ्रातृ-भाव का अनुभव कर लिया गया था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हमारा जीवन-नाद था, और हमारा जीवन का बीज मन्त्र था—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥"

अर्थात् सभी मनुष्य सुखी हो, सभी निरोग हो, चारो ओर कल्याणकारी दृश्य हो और किसी को भी दुःख प्राप्त न हो।

भारत मे ही नही, समय-समय पर ससार के सभी देशों मे इस प्रकार के श्रेष्ठ विचारक तथा मनीषी होते रहे है और है, जो सच्चे हृदय से मानव मात्र की एकता की कल्पना करते रहे है, और कर रहे है।

कल्पना तक ही नहीं कुछ महापुरुषो ने मानवतावाद तथा विश्व प्रेम के विचार का क्रियात्मक प्रचार एव प्रसार भी किया है और स्वामी राम इसी प्रकार के एक महान् मनीषी थे। भारतीय नवजागरण के काल मे भारत ने ऐसे कई महान् पुरुषो को जन्म दिया जो मानवतावाद के प्रबल पोषक थे—जैसे विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी और स्वामी रामतीर्थ।

इसमे स्वामी राम के विचार सबसे अधिक प्रेरक, सबसे अधिक सशक्त और सबसे अधिक व्यावहारिक है। वे मानव एकता की प्रबल एव उन्मुक्त लहर का संचार-सा करते प्रतीत होते है।

स्वामी राम के विचार पढते-पढते ऐसा प्रतीत होने लगता है कि समस्त संसार उनके लिए हस्तामलकवत् है जिसे वे अपना मानते हैं और जिसे ऊँचा उठाने के लिए ही उन्होने मानव-जीवन धारण किया है। वे कहते हैं—

"जव हम लोग यह अनुभव करते है कि संसार के सव मनुष्य हमारी अपनी ही आत्मा है, तो हमे कितनी प्रसन्नता होती है।"

स्वामी राम केवल शब्दो से ही नही कहते थे, वल्कि स्वयं अनुभव करते थे

—"सब देहों में मैं ही हूँ।" इस प्रकार स्वामी राम का विश्वमानवतावाद अपनी सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच कर 'व्यावहारिक वेदान्त' से एकाकार हो जाता है और वह हमे इतनी ऊँची भावभूमि पर ले जाता है कि जिसे सर्वोच्च कोटि की मानवता कहा जा सकता है।

—सम्पादक

मानवता और, विश्वप्रेम

मनुष्य-मात्र का भ्रातृभाव[1]

पहले आपके लिए यह उचित होगा कि मानव-मात्र की एकता, सबकी एक इकाई तथा मनुष्यमात्र के भ्रातृत्व को अपने हृदयो में, एकाग्रता[2] से—अनुभव करे, अनुभव करे, अनुभव करे।

यदि यह केवल कल्पना की बात होती तो इस पर समय लगाना अनुचित होता। इसे एक व्यवहार या अमल की वस्तु बना देना ही उचित है, ताकि यह आपको वास्तव मे आध्यात्मिक[3] आनन्द प्रदान कर सके।

जब हम लोग यह समझते है कि ससार के सब मनुष्य हमारी अपनी आत्मा है, तब हमे कितनी प्रसन्नता होती है! 'सगीतकार का वह सगीत जो मैने सुना था वह मेरा था'—अरे इसमे कितना हर्ष है!

जब हम लोग यह समझते है कि इस ससार मे जो मनुष्य अत्यन्त धनाढ्य[4] है, कीर्तिवान्[5] है—वे सब मै हूँ, तो इससे हमें कितनी प्रसन्नता मिलती है!

—यह अनुभव करने का प्रयत्न कीजिए तो आपको इस प्रकार दिखाई देने लगेगे।

---

१. भ्रातृभाव=भाईचारा।
२. एकाग्रता=मन को एक बात पर टिकाना।
३. आध्यात्मिक=आत्मा सम्बन्धी।
४ धनाढ्य=बहुत धनी।
५. कीर्तिवान्=यश वाले।

जिस प्रकार आप समझते हो कि यह एक देह आपकी है, उसी प्रकार यह समझना तथा अनुभव करना आरम्भ कर दीजिए कि सब शरीर आपके हैं—सब देहों मे आप ही हो।

जिस समय आप इस प्रकार से देखना-समझना आरम्भ कर देंगे, उस समय आप देखेगे कि जैसे यह देह आपके आदेशों का पालन करती है, हूबहू वैसे ही सब लोग आपका आदेश[1] मानते है।

जिस प्रकार आपकी इच्छा पर आपके पाँव चलना आरम्भ कर देते हैं, उसी प्रकार दूसरो के पाँव भी आपकी इच्छा मात्र पर चलना शुरू कर देंगे। इस प्रकार का परीक्षण-प्रयोग तथ्यों[2] द्वारा प्रमाणित हो चुका है।

यदि आप ऐक्य[3] की इस सच्चाई पर अपनी शक्तियो को एकाग्र करे, तो आप देखेगे कि इस संसार मे सभी के शरीर आपके आदेश के अनुसार आचरण[4] करने लगेंगे। आपके आदेशानुसार चलना-फिरना, चेष्टा करना आरम्भ कर देंगे।

इसकी परीक्षा की गई तो इसे एक तथ्य पाया गया। यह कोरी कल्पना की बात नही है। यह केवल बात ही बात नही बल्कि यह उतनी ही सचाई है जितनी आपकी देह एक तथ्य है।

यद्यपि यह एक तथ्य है, फिर भी तर्क के लिए इसे अव्यावहारिक भी मान लिया जाय, तो भी इस एकता की कल्पना की अनुभूतिमात्र से आपको एक आन्तरिक सुख प्राप्त होता अवश्य प्रतीत होगा।

मनुष्य धनसम्पत्ति के लिए आतुर[5] तथा चिन्तित क्यों रहा करते

---

१. आदेश=आज्ञा।
२. तथ्य=सचाई।
३. ऐक्य=एक।
४. आचरण=अमल।
५. आतुर=बेचैन।

है ? वे बागो पर अपना अधिकार स्थपित करना, हरे-भरे मैदानोंको अपना बनाने की अकाक्षा क्यों किया करते है ?

क्या आप स्थानीय धनियो के उद्यानो में नही जा सकते ? क्या सर्वजनिक[1] उद्यानो मे आप नही जा सकते ? क्या वहाँ घटो बैठकर मनचाहे ढग से उसी तरह वहाँ आनन्द नही प्राप्त कर सकते जैसे कि उन उद्यानो का स्वामी करता है ?

जो भलामानुस उस उद्यान[2] को अपना कहता है, क्या वह उन सब पुष्पो-फलो-वृक्षो को चार नयनो से देखने में समर्थ हो सकता है ? वह उद्यान, पुष्प, हरे-भरे पत्ते, वे समस्त[3] फल आपके ही समान दो नयनो से ही नही देखता ? क्या उसे भी आपकी ही तरह दो नयन नही मिले हुए है ?

उद्यान मे कोयलो तथा पछियो का गाना वह भी उसी तरह दो कानो से श्रवण[4] करता है, जिस प्रकार आप करते हो । तब फिर आप उस उद्यान के स्वामी होने की मूढतापूर्ण[5] आकाक्षा के लिए क्यो बेचैन होते हो ? विश्व के समस्त उद्यानो को आप अपना ही समझे ।

राम की इच्छा है कि मानव के सभी शरीरो को आप अपना ही शरीर समझे । समझे ही नही, हृदय मे अनुभव करे । आप अनुभव करे कि सब योग्यताएँ, शक्तियाँ तथा कुशलताएँ[6] आपके ही मन को प्राप्त हुई है ।

---

१ सार्वजनिक=आम जनता ।

२ उद्यान=बाग ।

३. समस्त=सारे ।

४. श्रवण करना=सुनना ।

५ मूढतापूर्ण=मूर्खता से भरा ।

६ कुशलताएँ=काम करने मे चतुराइयाँ ।

यह इस प्रकार की कल्पना नही है जिसे आप बनावटी अथवा 'कठिन' कह सकें। जीवन के ऊँचे आदर्शों को पाने के लिए साधना करना आवश्यक नही होता। वे गुण आपके लिए उपयोगी है, परन्तु यह सत्यों का सत्य—सर्वोपरि[१] सत्य है, कि सभी देह आपकी हैं, इस सच्चाई पर अपनी सम्पूर्ण शक्तियो को एकाग्र करना आपके लिए सर्वाधिक[२] लाभकारी होगा।

इस चरम[३] सत्य पर अपना ध्यान एकाग्र कीजिए—ऐसा अनुभव कीजिए कि सब शरीर आपके है। सडक पर जाते हुए किसी महान् से महान् मनुष्य को—किसी देश के सम्राट्, महारानी, राष्ट्रपति आदि को देखो, तो मन मे न किसी प्रकार की ईर्ष्या की भावना आने दो, न भय की। उसकी शाहनशाही[४] दृष्टि को अपनी ही दृष्टि समझो। इस प्रकार आनन्द अनुभव करो—"मै वही हूं, उससे भिन्न और कोई नही।"

जिस समय आप इस प्रकार का अनुभव पाने का प्रयत्न करेगे, उस समय स्वयं आपका अनुभव यह प्रमाणित[५] कर देगा कि सब एक हैं—अभिन्न[६] है। हर एक मनुष्य के कान, नयन, पांव तथा शरीर आपके हो जाएँगे।

मानव-मात्र के भ्रातृभाव को भले ही तर्कशास्त्र (Logic) से सिद्ध न किया जा सके, भौतिकशास्त्र[७] इसे प्रमाणित न कर सके, दर्शन

---

१. सर्वोपरि=सबसे ऊपर श्रेष्ठ।
२. सर्वाधिक=सबसे अधिक।
३. चरम=परम, सबसे अधिक।
४. शाहनशाही=बादशाहों की।
५. प्रमाणित=सिद्ध, साबित।
६. अभिन्न=अलग नहीं।
७. भौतिकशास्त्र=फ़िज़िक्स।

(Philosophy) इसे सिद्ध करने मे सफल रहे या असफल, परन्तु यह वस्तुत एक सच्चाई है, जिसे अनुभव द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

राम अब आपको कुछ युक्तियाँ[1] बताएगा, जिनके आधार पर 'मानवमात्र के भ्रातृभाव'—इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है। जब तक राम युक्तियो का प्रतिदान करता रहे तब तक आप अपनी भावनाओ मे, मन मे उन परिणामो को हृदयगम करने का प्रयत्न करते रहे। यदि आप ऐसा करेंगे, तो राम के मुख से प्रकट होने वाले परिणाम आपके अनुभव मे उतरने लगेंगे।

'मनुष्य का भ्रातृत्व' एक भ्रम पैदा करने वाली उक्ति है। भ्रातृ (भाई) शब्द मे भी किसी तरह भिन्नता बनी रहती है। भाई एक-दूसरे से झगडा करते, लडाई करते दिखलाई देते है। **विश्वमानवता[2] में किसी प्रकार के भेदभाव के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं है। यह भावना भ्रातृत्व से भी बढ़चढ़ कर है।** इसका उचित शीर्षक तो यह होता—'मानव की सयुक्त इकाई।'

आप शायद कहे—"आत्मा के बारे मे किये गये अनुमानो से हमें तग मत कीजिए, आप सर्वदा हमे आत्मा-सम्बन्धी चर्चा से तग करते रहते है। यह तो अत्यन्त सूक्ष्म विषय है।"

हम सभी इस विषय मे एकमत है कि आत्मा तक कोई शब्द नही पहुँच सकता। कोई भी भाषा वहाँ तक पहुँचने मे असमर्थ[3] है। परन्तु यदि आप आत्मा के विषय मे कुछ नही सुनना चाहते, जो शब्दातीत

---

१ युक्तियाँ=दलीलें, तर्क।

२ विश्वमानवता=ससार के मनुष्य एक है—यह भावना।

३ असमर्थ=शक्ति रहित।

है—वर्णन से परे है तो राम आपके सम्मुख इस विषय को स्थूल से स्थूल दृष्टिकोण से ही उपस्थित करेगा।

हम स्थूल शरीर से आरम्भ[1] करते है। कारण, वह अत्यन्त स्थूल है। यदि आत्मा के 'स्व' भाव को छोड़ भी दें, यदि हम आत्मा को वस्तुत[2] अपना आपा न भी समझे, तो भी स्थूल देह पर विचार करने से भी यही प्रमाणित होता है—'हम सब एक है।' भावना (Feeling) के स्तर पर सब मन यह सिद्ध करते हैं कि आप सब 'एक' है।

विज्ञान द्वारा भी यह प्रमाणित[3] होता है कि भौतिक स्तर पर, मनोवैज्ञानिक स्तर पर, सूक्ष्म चिह्नो के स्तर पर, आप सब एक हैं।

यदि आप ऐसा नही अनुभव करते, यदि अपने व्यावहारिक[4] जीवन मे भ्रातृत्व के अनुकूल नही जीवन जीते, तो आप परम पवित्र सत्य का उल्लघन[5] करते हैं।

आप जानते है कि जो व्यक्ति शासन के कानूनों को भंग करता है, उसे दण्ड दिया जाता है, वह बच नहीं सकता। इसी तरह जो लोग भ्रातृभाव की अनुभूति[6] से अनुप्राणित नहीं होते, तथा प्रतिदिन के जीवन में इस भ्रातृभाव को अमल में नहीं लाते, वे दण्ड भोगने के लिए बाध्य होते हैं।

इस अति पावन[7] धर्म, इस परम पवित्र सत्य, इस प्राकृतिक[8]

---

१. आरम्भ=शुरु।
२. वस्तुत=दरअसल।
३ प्रमाणित=सिद्ध, साबित।
४. व्यावहारिक=अमली।
५. उल्लघन=लाँघना, नियम तोड़ना।
६. अनुभूति=महसूस करना।
७. पावन=पवित्र।
८. प्राकृतिक=कुदरती।

कानून—अर्थात् मनुष्य जाति के भ्रातृभाव को—सबकी इकाई को खण्डित करने का ही यह परिणाम—ससार के सभी कष्ट, दु ख, पीड़ा, व्याकुलता तथा दुर्दशा है ।

अब समझने का प्रयत्न कीजिए कि किस तरह हम सबके भौतिक शरीर एक है । आप प्रश्न करेगे कि यह कैसे सम्भव है ? वह शरीर उस स्थान पर बैठा है तथा यह शरीर इस स्थान पर खडा है । फिर वे 'एक' किस तरह हो सकते है ?

उत्तर यह है कि ठीक उसी प्रकार, जैसे सागर की एक लहर यहाँ आभासित होती है और दूसरी लहर वहाँ प्रतीत होती है, ऐसा लगता है कि उन्हे पृथक्[1] पृथक् स्थानो पर स्थित किया गया है । उनके आकार भी भिन्न-भिन्न लक्षित होते है; परन्तु वस्तुत वे दोनो तरगे एक है । कारण, वे उसी जल से है, सागर एक ही है, जो इन तरगो में दृष्टि-गोचर[2] होता है । जिस जल ने इस समय इस तरग को बनाया है, वही कुछ समय उपरान्त अन्य तरग को वनाएगा ।

तरगो के विषय में हमे जो बात सत्य दिखाई पडती है, वही बात हमारे-आपके भौतिक शरीरो की है । जो चीज़ इस समय इस शरीर का निर्माण[3] करती है वही कुछ काल के उपरान्त दूसरी देह का निर्माण करती है । यही नही, अपितु इससे भी अधिक, जो भौतिक परमाणु, जिसे आप राम का शरीर कहते है उसके निर्मायक प्रतीत होते है, वे आपके जीवन-समय मे ही दूसरे शरीर मे चले जाते है । साँस की क्रिया से यह स्पष्ट प्रभाणित होता है । आप ओषजन (Oxygen) अन्दर खीच रहे है तथा कार्वन डायक्साइड बाहर निकाल रहे है । पौधे साँस द्वारा इस कार्वन डायक्साइड को अन्दर खीच रहे है, और

---

१. पृथक्=अलग ।

२ दृष्टिगोचर=दिखाई देना ।

३ निर्माण=वनाना ।

वे आक्सीजन वाहर निकाल रहे हैं। उसी ओषजन को आप अपनी साँस द्वारा अन्दर खीच रहे है। और आप कार्बन डायक्साइड साँस द्वारा वाहर फेंकते हैं। उसी कार्बन डायक्साइड को पुन. पौधे साँस द्वारा अपने अन्दर खीन्चते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि पौधो के साथ आपका भ्रातृत्व[1] सम्बन्ध है। आपकी साँस उनके अन्दर जाती है, उनकी साँस आपके अन्दर प्रविष्ट होती है। इस तरह आप उद्यान के पौधों से भी एक हैं।

अब हम दूसरे पक्ष[2] पर विचार करते हैं। जिस ओषजन गैस को आप श्वास द्वारा अपने अन्दर खीचते हैं, तथा जो (आपके फेफड़ों मे) कार्बन डायक्साइड में परिवर्तित हो जाता है, उसे पौधों ने अपने श्वास द्वारा वाहर छोड़ा था। वही ओषजन आपके भाइयो (मनुष्यो) के फुफ्फुसो[3] मे जाता है। जो ओषजन इस समय आपकी देह मे है, वही आपके भ्राता के शरीर के अन्दर भी है। आप सभी एक ही वायु में श्वास लेते हे।

तनिक अनुभव कीजिए कि आप लोग तमाम (मनुष्य) एक ही वायु में श्वास ग्रहण[4] कर रहे हैं। आपकी श्वासक्रिया[5] के द्वारा आपके सभी के शरीर एक हैं। ठीक उसी तरह, जैसे आप एक ही धरती पर, एक ही एक सूर्य तथा चन्द्र के नीचे, एक ही वायुमंडल[6] में घिरे हुए रहते हो। आप एक ही फल-फूल, सागसब्जी, अनाज

---

१. भ्रातृत्व=भाईचारा।
२. पक्ष=पहलू।
३. फुफ्फुस=फेफड़े।
४. श्वास ग्रहण=साँस अन्दर लेना।
५. श्वासक्रिया=साँस लेना और बाहर निकालना।
६. वायुमंडल=हवा का घेरा।

अथवा मांस का भोजन करते हो। उसके खाने से आपके शरीरों का एक ही प्रकार से पोषण होता है। मल तथा मूत्र के रूप में वही पदार्थ बाहर निकलते हैं, अपने इस व्यक्त रूप में वे पेड़-पौधों—वनस्पतियों के फल-फूलों मे प्रविष्ट[1] होते है—वे ही पुनः फल-फूलों—बीजों के रूप में व्यक्त होते है। वे ही वस्तुएँ, जिन्हे आपके शरीरों ने बाहर निकाला था, फिर से साग-सब्जियों, फलों के रूप में व्यक्त होकर, आपके भाइयों द्वारा फिर खाये जाते है, वे फिर अन्य मनुष्यों के शरीरों में प्रविष्ट होते हैं।

इस तरह हमे दिखाई देता है कि जो वस्तु एक समय आप की थी, वही फौरन दूसरे की बन जाती है यदि हम अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) द्वारा अपनी त्वचा (Skin) का निरीक्षण[2] करे, तो हमें अपने शरीरो से लघु सजीव परमाणु बाहर निकलते, छोटे-छोटे जीवित अणु शरीर से बाहर निकलते दिखाई देगे। वे केवल बाहर ही नही आ रहे, बल्कि उसी प्रकार के अणु हमारे शरीरो मे प्रवेश भी कर रहे है। कुछ अणु देहों से बाहर निकल रहे है, कुछ देहो में प्रविष्ट हो रहे है।

इस ससार मे इसी प्रकार लगातार परिवर्तन—रद्दोबदल—आदान-प्रदान[3] जारी है। सजीव अणु, जो इस समय आपकी देह से बाहर निकल रहे हैं, वे इस वातावरण मे प्रसारित[4] हो रहे है, तथा वे ही जीवित अणु—जो अब तक आपके थे, तत्काल[5] ही आपके

---

१ प्रविष्ट=दाखिल।

२. निरीक्षण=गहराई से देखना।

३. आदान-प्रदान=लेना-देना।

४ प्रसारित होना=फैलना।

५. तत्काल=तुरन्त।

दूसरे साथी के बन जाते हैं। भौतिक शास्त्र तथा जीव विज्ञान निःसन्देह यह बतलाते हैं कि आपके भौतिक शरीर सभी एक हैं।

सम्भवतः आप इस पर विश्वास न करें, आप कहे—यह कैसे हो सकता है कि जीवित[1], अत्यन्त[2] सूक्ष्म अणु मेरे सगियो की देहों से निकलकर मेरे शरीर मे घुस रहे हैं? तथा इसी प्रकार के अणु मेरे शरीर से बाहर निकलकर मेरे संगियों के शरीर में सम्मिलित होते जा रहे है?

आइए, इसका परीक्षण करे। गध का क्या कारण है? हम जानते हैं कि जिन चीजो को हम सूंघते है, उनसे बाहर आने वाले नन्हे जीवित अणु[3] ही उस गन्ध का कारण है। पुष्प छोटे-छोटे सजीव अणुओ को बाहर निकालते है। इसीलिए पुष्प सुगन्धिमय[4] है। यह एक सच्चाई है, जिसे भौतिकी ने प्रमाणित कर दिया है। यहाँ हम आपके अनेक शरीर देख रहे हैं, क्या उनसे गन्ध नही आती? क्या आपकी नाक इतनी तेज नही है, अथवा आप में सूंघने की इतनी शक्ति नहीं है कि आप इस गन्ध को सूंघ सकें?

आपके शरीर गन्ध वाले है। कभी-कभी आपको अपने शरीर की गन्ध मालूम होती है। कुत्ते सूंघ कर आपको खोज लेते है। यदि आपके शरीरो से गन्ध न आती, तो कुत्ते सूंघते हुए आपको किस तरह खोज लेते? आपकी देहो से बाहर आनेवाली गन्ध प्रमाणित[5] करती है कि नन्हे जीवित अणु आपके शरीरो को छोड़कर बाहर

---

१. जीवित=जिन्दा।

२. अत्यन्त सूक्ष्म=बहुत महीन।

३. अणु=एटम।

४. सुगन्धिमय=खुशबूदार।

५. प्रमाणित=साबित, सिद्ध।

आ रहे है । ये छोटे-छोटे जीवित अणु आपके शरीरो से बाहर निकलते है तथा औरो के शरीरो मे घुसते है । औरो के शरीरो से निकलते हुए जीवित अणु आपके शरीरो में प्रविष्ट होते है । इससे स्पष्ट है कि आप सब एक है ।

अरे हम सब का एक ही विराट् शरीर है । उस गन्ध को अनुभव कीजिए । इस अर्थ मे हम सब की भौतिक[१] देह एक ही है ।

एक व्यक्ति रोगी है । आप उसके समीप जाते है । उस रोगी के कमरे तक से रोग की गन्ध आती है । एक व्यक्ति किसी सक्रामक[२] रोग (contagious disease) से—हैजा, चेचक अथवा प्लेग से पीड़ित है । अन्य व्यक्तियो को उसकी छूत की बीमारी कैसे लग जाती है ? इसका एक ही कारण है कि छोटे-छोटे जीवाणु (रोगाणु) रोगी के शरीर से बाहर आ रहे है, वे औरो की देहो मे घुस जाते है । क्या इससे यह नही स्पष्ट पता चलता कि रुग्ण के शरीर से जो अणु बाहर निकलते है, वे हमारे शरीरो से चिपट जाते है, या शरीरो में प्रवेश कर जाते है ? इसी प्रकार रोग हमे चिपटता है और हम भी अपने को रुग्ण अनुभव करने लगते है ।

एक व्यक्ति को प्रतिश्याय[३] हो जाता है । उसके पास रहने वाले अन्य व्यक्ति को भी यदि वह नाजुक स्वभाव का हो, प्रतिश्याय हो जाता है । एक व्यक्ति क्षय[४] का रोगी है, दूसरे को भी (उसके ससर्ग मे आने से) क्षय हो जाता है । यह किस प्रकार सम्भव है ? यदि सजीव अणु जो आपके भाई की देह का निर्माण करते है, उसकी देह से बाहर न आते, तो आपकी देह का निर्माण न करते ।

---

१. भौतिक=पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश से बनी ।

२ सक्रामक रोग=छूत की बीमारियाँ ।

३. प्रतिश्याय=जुकाम ।

४. क्षय=तपेदिक ।

इससे प्रकट है कि आप सब एक हैं। हमारी स्थूल देह भी एक है, आत्मा की तो बात ही क्या !

राम इससे एक अद्भुत परिणाम निकालता है, यदि एक व्यक्ति रोगी होता है, तो उसके रोग की मुख्य पहचान क्या है ? उस विषय मे विशेष उत्तरदायित्व[1] क्या है ? वह बीमार है, वह स्वयं बीमारी का कष्ट भोग रहा है। यह ठीक है। किस कारण ? अपनी अज्ञता[2] के कारण, पर वह हमारे लिए भी रोग लाता है—हमे भी रोग लगाता है। यद्यपि वह स्वय कष्ट पा रहा है, तथापि अपनी इस रुग्णता[3] के लिए वह समस्त ससार के प्रति जिम्मेदार है। वह रुग्ण है, तथा अपने बीमार शरीर द्वारा बीमारी के कीटाणु अनजाने ही फैला रहा है। मुझे रोगी नहीं होना चाहिए, केवल इस कारण नहीं कि उससे मुझे कष्ट होगा; बल्कि इस कारण कि मेरा रोगी होना सारी दुनिया के लिए उत्तरदायी है। आपको रुग्ण होने का कोई अधिकार नही। अपनी रुग्णता के हेतु आप समस्त ससार के प्रति उत्तरदायी[4] हो। आपकी बीमार देह सारी दुनिया को रुग्ण बना रही है। यह बीमारी उत्पन्न करने वाले रोगाणुओं को उत्पन्न कर रही है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए।

इस प्रकार रुग्णता केवल शारीरिक ही नहीं होती, नैतिक भी होती है। उसका सम्बन्ध समाज से भी है। तब तो आपको पूर्णतया सावधान रहना चाहिए कि जिससे आपके शरीर स्वस्थ तथा बलवान

---

१. उत्तरदायित्व=जिम्मेदारी।
२. अज्ञता=अज्ञान।
३. रुग्णता=बीमारी की दशा।
४. उत्तरदायी=जवाबदेह।

रहें। खाते-पीते समय आप सतर्क[1] रहें, अपने व्यक्तिगत[2] देह-सुख के लिए नहीं; बल्कि समस्त संसार की भलाई के लिए बहुत ज्यादा न खाएँ-पिएँ तथा स्वास्थ्य रक्षा के लिए पूरी तरह सतर्क रहें।

अच्छा तो जो लोग नीरोग है, उनका बीमारों के प्रति क्या कर्तव्य है ? जो तन्दुरुस्त है, उन्हे चाहिए कि बीमारो की सेवा करे। यह सेवा व्यक्तिगत रूप से उन पर दया या मेहरबानी के रूप न हो, बल्कि सारी दुनिया की भलाई के विचार से, मनुष्य-समाज के हित की दृष्टि से, सत्यता के लिए, सार्वलौकिक[3] भ्रातृभाव के नाम पर— अपने व्यक्तिगत हित के कारण होनी चाहिए। यह बीमार पर कृपा नही, बीमार की सेवा-सुश्रूषा करना तथा उसकी सहायता के लिए चेष्टा करना आपका मनुष्य जाति के प्रति फर्ज है।

तब आप देखेगे कि हमारी स्थूल देहे जो भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है, एक-दूसरे के हित के लिए कष्ट सहन कर रही है। **मांस-लहू के समान अत्यन्त पावन[4] सम्बन्धों द्वारा आबद्ध हम सभी मानव स्थूल जगत् में परस्पर भाई-भाई हैं।** वैद्य-डाक्टर साबित करते है कि सात बरस के उपरान्त[5] मनुष्य की देह सर्वथा परिवर्तित हो जाती है। शरीर के हर-एक अणु-परमाणु का स्थान नवीन अणु-परमाणु ले लेते है। इससे यह भी विदित होता है कि इन प्रतिपल परिवर्तन होते परमाणुओ को, इन देहो को, जो सतत् प्रवाहमय है, केवल 'हमारा' या 'तुम्हारा' समझने का कोई हक नही। यह देह

---

१ सतर्क=सावधान।

२. व्यक्तिगत=एक शख्स के अपने (Individual)।

३. सार्वलौकिक=सब लोगो का, सारे ससार का।

४ पावन=पवित्र।

५ उपरान्त=बा॰ ।

'मेरी' है, वह 'तुम्हारी' है—इस प्रकार कहने का हमे कोई अधिकार नही है।

यह शरीर पल-पल परिवर्तनशील[1] है, तथा वह शरीर जिसे मैं इस पल 'अपना' कह रहा हूँ, क्षण-भर बाद मेरा नही रहता। ऐसी कौन-सी चीज है, जिसे मैं अपनी कह सकता हूँ ? इस समय जो राम का शरीर है, वह सात वर्ष पूर्व किसी और का था। चौदह बरस पहले जो देह राम की थी, अब वह और किसी की है, कई व्यक्तियो की। इस प्रकार, यह शरीर जिसे आप 'अपना' कह रहे है, प्रत्येक का तथा सबका है। कृपा करके इस तथ्य को समझ लीजिए। स्थूल ससार में भी आप सब एक है।

अब हमे मानसिक[2] लोक पर विचार करना है। आपके बाल परिवर्धित होते रहते है, आपकी धमनियो में रुधिर (लहू) का सचार होता है। तनिक ध्यान दीजिए। आपके केशो की वृद्धि करने वाला कौन है ? क्या वह वही शक्ति नही, जो आपके मित्र के केशो को बढाती है ? क्या आपको इसमें कुछ भिन्नता[3] प्रतीत होती है ? आपकी धमनियो-शिराओं मे रक्त को प्रवाहित करने वाला कौन है ? क्या यह वही शक्ति नही, जो अन्य सभी की धमनियो-शिराओं में रक्त का सचार करती है ? आपके उदर में अन्न का पाचन कौन करता है ? क्या यह वही सामर्थ्य नही, जो प्रत्येक व्यक्ति के उदर मे अन्न का पाचन करती है ?

इस सच्चाई को अपने चित्त के सम्मुख रखिए। क्षण-भर के लिए इस तथ्य का अनुभव[4] कीजिए। ओह ! आश्चर्यों का आश्चर्य ! राम

---

१. परिवर्तनशील = बदलने वाला।
२. मानसिक = मन से सम्बन्ध रखने वाला।
३. भिन्नता = अलगाव।
४. अनुभव = महसूस।

कौन है ? क्या राम वही शक्ति नही है, जो बालो को बढाती है, अन्न को पचाती है, और धमनियो-शिराओ में रुधर का सचार करती है ? यदि राम वही शक्ति है, वह अविभक्त है, एक है, सबके शरीरों में वह वर्तमान है । तो राम एक अविभाज्य[1], अखडित[2], अवर्णनीय[3], अविनाशी शक्ति है, जो इन सभी शरीरो पर शासन करती और इनका नियत्रण करती है । कृपया इसे अनुभव कीजिए । यह मानसिक स्तर पर तथ्य है । आप सब एक है । आप सब अभिन्न है, कोई अन्तर नही है । कृपया इसे अनुभव कीजिए । जब यह शरीर जिसे आप अपना कहते है, भूखा रहता है, तो आप दु खी क्यो होते है ? सभी शरीर जो अच्छा खा-पीकर हृष्टपुष्ट है, वे भी सब आपके है ।

यह एक विशेष देह जिसे आप अपनी कह रहे है, जब रोगी होती है, तब आपको दु खी तथा खिन्न होने की क्या आवश्यकता है ? वे सभी शरीर जो नीरोग है, आप ही हो । इस तथ्य को प्रतीत कीजिए, इस सच्चाई का अनुभव कीजिए । औरों के प्रति आपका कर्तव्य क्या है ? अन्य लोग जब रुग्ण[4] हों, तब आप उन्हे अपने पास ले आएँ । जिस प्रकार अपने शरीर-विशेष की आप सेवा-टहल करते है, उसी प्रकार दूसरो के भी घावों की सेवा-सुश्रूषा कीजिए । मानो वे आपके ही हैं । आपका कर्तव्य दूसरों को ऊँचा उठाना, उनसे हमदर्दी करना है । परन्तु अपने व्यक्तिगत शरीर के प्रति आपका यह फर्ज है कि आप अपने को सभी प्रकार की परिस्थतियों[5] में हर्षित रखे, सुखी अनुभव करें । सब प्रकार की बेचैनी तथा क्लेशों से बचे रहे ।

---

१ अविभाज्य=जिसे बाँटा न जा सके ।

२. अखडित=जिसके टुकडे न हो सकें ।

३. अवर्णनीय=जिसका वर्णन न हो सके ।

४. रुग्ण=बीमार ।

५. परिस्थितियां=हालात ।

अव हम इस पर भावना या मनोवैज्ञानिक[1] दृष्टि से विचार करते हैं। भावना-लोक मे भी आप सब एक है। मनोवृत्तियो के दृष्टकोण[2] से आप सभी एक है। यह सच्चाई है, इसका भलीभाँति अनुभव कीजिए।

एक सितार या सारगी (तार वाला वाद्य) है। जो ठीक है, हर प्रकार से दुरुस्त है, उसी की तुलना मे एक अन्य तार वाला वाद्य है। दोनों ठीक एक-जैसे कसे हुए है। जब आप एक के तार को वजाना आरम्भ करते हैं, तो पास वाले वाद्य से भी वैसी ही आवाज निकलती है। जव एक तन्त्री को आप वजाते हैं, तो सामने वाली तन्त्री[3] का भी वही तार झकृत होने लगता है। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि जिन तरगो से हमें एक वाद्य की ध्वनि प्राप्त होती है, वह दूसरे वाद्य के चहुँ ओर भी विद्यमान है।

आप किसी वस्तु का अनुभव करना आरम्भ करते है, आपके पड़ोस पर फौरन उनका असर पडता है। नाटक-ड्रामे मे—प्रेक्षागृहों[4] में अभिनेता[5] हर प्रकार की मनोभावनाओ का अभिनय करते है। उनकी भावनाएँ वास्तविक[6] नही होती, वे तो स्वाँग रचते है। एक तरफ वे रोने लगते है, दूसरी तरफ हँसने लगते है। उनकी भावनाएं यथार्थ नही होती। तथापि हम देखते हैं कि जव किसी अत्यन्त श्रेष्ठ अभिनेता को रुलाई आ जाती है, तो सारे दर्शक रो पड़ते हैं। सबको रुलाई आ जाती है।

---

१. मनोवैज्ञानिक=मन की भावनाओ से सम्बन्ध रखने वाला (साइकालोजिकल)।
२. दृष्टिकोण=नजरिया।
३. तन्त्री=वीणा।
४. प्रेक्षागृह=थियेटर।
५. अभिनेता=एक्टर।
६. वास्तविक=असली।

क्या कारण है ? क्योंकि एक तंत्री का तार झंकृत होने पर आपके चित्र के सभी वाद्य-यंत्रों पर फौरन चोट पहुँचती है ? यदि आप सब के मन एक न होते, यदि आप सबकी भावनाएँ—चित्तवृत्तियाँ—अन्तःकरण के मनोविचार—मानसिक प्रवृत्तियाँ—भाई-भाई के सदृश एक-दूसरे से सम्बद्ध न होतीं, तो ऐसा होना असम्भव था। यदि आपके हृदय परस्पर इसी प्रकार से सम्बन्धित या जुड़े हुए (एक) न होते जिस प्रकार भिन्न-भिन्न तरंगे, यदि आपके मन उसी एक महासमुद्र की तरंगें न होते, तो यह आपकी पारस्परिक[1] सहानुभूति की भावना असम्भव होती।

विज्ञान बताता है कि यदि एक शरीर की दूसरे शरीर पर क्रिया होती है, तो दोनो मे अनुवर्तन (continuity) का सम्बन्ध होना अनिवार्य है और कोई शक्ति इस अनुवर्तन के नियम को भग नही कर सकती।

यहाँ यह स्थूल, ठोस डेस्क या मेज है, इसका एक कोना जरा सरकाइए, सारी मेज सरक जाएगी; क्योकि यह भाग अन्य भागो से आबद्ध[2] है—जुडा हुआ है। प्रत्येक शक्ति को क्रिया करने के लिए निरन्तर कार्य करना पडता है। इस तरह एक मानव की भावनाएँ अथवा मनोवृत्तियाँ अन्य मानव के पास पहुँचाई जाती है। यदि एक मानव का चित्त अन्य मानव के चित्त से मानो अटूट माध्यम[3] द्वारा न आबद्ध होता, तो ऐसा होना सम्भव न था। इस तरह यदि आप सबके मन एक दूसरे से आनुवर्तिता (continuity) से, मजबूती के साथ, जुडे हुए न होते, तो एक मानव की मनः प्रवृत्तियाँ (भावनाएँ)

---

१. पारस्परिक=आपसी।

२ आबद्ध=बँधा हुआ, जुडा हुआ।

३ माध्यम=बीच का जोडने वाला पदार्थ।

अन्य व्यक्ति तक पहुँचनी असम्भव होतीं। यह एक ठोस सच्चाई है। क्या आप नही देखते कि मानव की मनोवृत्तियों का एक-दूसरे के मन में पहुँच जाने का ठोस तथ्य ही आपको इस परिमाण पर पहुँचने के लिए वाध्य[1] करता है कि आप सबके हृदय एक-दूसरे से संश्लिष्ट है, मानो वे एक देह है। उनमे विचारो तथा भावनाओं का ऐक्य[2] (अभेद) है।

राम ने प्रायः देखा है कि जब वह भाषण के बीच मे हँसता है, तो प्रत्येक व्यक्ति हँस पड़ता है। यह भी देखा गया है कि जब एक व्यक्ति रुदन करने लगता है, तो औरों के मन भी पिघल जाते है, बेचैन हो जाते है। यहाँ एक मानव गाना गा रहा है। उसके चारों ओर जो व्यक्ति होते है, उनके हृदय भी तान और आलाप से तरंगित होने लग जाते है। राम को यह भी देखने का अवसर प्राप्त हुआ है कि जिस समय एक व्यक्ति गाना शुरु करता है, उस समय अन्य मनुष्य भी, जो वहाँ विद्यमान हो, गुनगुनाने लग जाते हैं। यदि आप को—सबकी मनोभावनाएँ[3] या मन एक न होते, तो ऐसा कैसे सम्भव था? कृपा करके इस पर जरा ख्याल कीजिए।

हम बातें किस तरह सीखते हैं? हम अपने मित्रों, वयस्यों तथा अन्य सगी-साथियों से सीखते हैं। कोई अध्यापक या उपदेशक आप को कोई बात किस तरह सिखला सकता है? यदि शिक्षक तथा शिष्य का, गुरु और चेले का मन एक नही होता, यदि मानसिक संसार मे उनका पारस्परिक बन्धुभाव सम्बन्ध न होता, तो सीखने वाला क्या सीखता? यहाँ एक मन दूसरे मन से साक्षात् बातचीत

---

१. बाध्य=मजबूर।
२. ऐक्य=अभिन्नता।
३. मनोभावनाएँ=मन की भावनाएँ।

कर रहा है। जो शिक्षक का बोध[1] है, वह शिष्य[2] का बोध बन जाता है। यह किस प्रकार सम्भव था, यदि दोनों के मन का सीधा (direct) संयोग न होता ?

यह बात अनुभव में आई है कि जिस समय आप वस्तुतः अपने वयस्य के प्रति सहानुभूति[3] रखते हैं, जब आप स्नेह, दया, विशाल-हृदयता[4] की भावनाओं को, किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति सम्मान की भावना को अपने मन से पुष्ट करते हैं, तो दूसरा व्यक्ति सहस्रों मीलों की दूरी पर रहता हुआ भी उन सम्पूर्ण भावनाओं का अनुभव करने पर विवश होता है। राम ने इस सच्चाई के तथ्य को परख कर देखा है। सहस्रो[5] मीलो की दूरी से इसमें कोई फर्क नही पड़ता।

क्या इससे यह स्पष्ट नही होता कि आप सबके चित्त एक ही स्तर पर हैं, तथा उनमें परस्पर प्रगाढ सम्बन्ध है? मानसिक जगत् में आप सब परस्पर भाई-भाई है।

इस जगत् में अपराधियो[6] तथा पापियो का जन्म किस तरह होता है ? एक व्यक्ति आता है, वह आपकी भावनाओ पर आघात[7] पहुँचाता है। परन्तु वह मनुष्य अति बलवान् है। आपसे कही अधिक सामर्थ्यवान्[8] है। आपके मन मे उसके प्रति घृणा का भाव आता है; परन्तु आप उसे अमल में लाने मे असमर्थ हैं। वही बलशाली मनुष्य

---

१. बोध=ज्ञान।
२. शिष्य=चेला।
३. सहानुभूति=हमदर्दी।
४. विशालहृदयता=खुला दिल होना।
५. सहस्रो=हजारो।
६. अपराधी=मुजरिम, दोषी।
७. आघात=चोट।
८. सामर्थ्यवान्=शक्तिशाली।

किसी अन्य कोमल मानव की भावनाओ पर चोट करता है। वह अन्य कोमल स्वभाव मनुष्य भी इससे नाराज़ होता है, उसके प्रति द्वेष के विचार रखता है, परन्तु अपनी देह के द्वारा अपने भाव को वह क्रियान्वित नही कर सकता। वह वलशाली व्यक्ति एक तीसरे मनुष्य की भावनाओं पर आघात पहुँचाता है । तीसरा व्यक्ति भी कम वली है, अत. अपराधी को प्रत्यक्ष हानि पहुँचाने में असमर्थ है। इसी प्रकार मान लो, वीस-पच्चीस, पचास-सौ मानव उस व्यक्ति द्वारा सताये जाते है।

अन्त मे एक अवसर आता है, जव वह वली व्यक्ति किसी अतिशय वलशाली मानव के पास पहुँचता है, जो इसकी टक्कर का है। अपराधी व्यक्ति द्वारा अपमानित होने पर, पहली वार ही यह अतिशय वलशाली मानव इतना कुपित[1] हो जाता है कि आपे से वाहर हो जाता है। वह अपमान के परिमाण[2] का कुछ ख्याल नही करता। वह यह नही विचार करता कि अपमान की मात्रा 'न' के वरावर है। वह उछल कर उठ खड़ा होता है, तथा वन्दूक लेकर उस व्यक्ति का वध कर देता है। अपराधी को गोली मार दी जाती है। पुलिस दूसरे मनुष्य (वन्दूक चलाने वाले) को 'अपराधी' कह कर गिरफ्तार कर लेती है। उसे न्यायाधीश[3] के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। न्यायाधीश मामले की छानवीन करता है। अनादर के सामने कोप[4] को वुरी तरह अधिक देखकर वह हक्का-वक्का[5] रह जाता है। अपमान तो नगण्य था। परन्तु क्रोध की कुछ सीमा न थी। न्याया-

---

१. कुपित=क्रुद्ध, गुस्सा।
२. परिमाण=मात्रा।
३. न्यायाधीश=जज।
४. कोप=क्रोध।
५. हक्का-वक्का=चकित।

धीश को आश्चर्य होता है। अखबारो मे इस मामले की चर्चा छपती है। यह कैसा जल्दी क्रुद्ध होने वाला दुष्ट मनुष्य है, जिसने साधारण से अनादर पर इतना क्रुद्ध होकर दूसरे व्यक्ति का वध कर डाला ! क्या इस प्रकार की घटनाएँ आये दिन नहीं घटती रहती ? न्यायाधीश तथा अखबार वालो को नही समझ आता कि यह भयानक क्रोध कैसे भडक उठा ? वेदान्त का मत है कि मानसिक स्तर पर एक साझेदारी वाली कम्पनी है। आप जानते है कि इस तरह की कम्पनियो मे बहुत से लोग भागीदार होते है। एक मनुष्य इसका प्रबन्धकर्त्ता होता है। इस प्रकार जब मूल अपराधी ने आपकी भावनाओ को उत्तेजित[१] कर दिया, तब आपने उसके खिलाफ शत्रुता तथा द्वेष के भावो का प्रवाह[२] जो बहाया था, उस प्रवाह मे आपने अपना हिस्सा उस मूल अपराधी के प्रति शामिल किया था। जब दूसरा व्यक्ति अनादृत[३] हुआ तो उसने भी अपना योगदान किया, तीसरे व्यक्ति का अपमान हुआ, उसने भी अपना भाग मिलाया। इसी तरह चौथे-पाँचवे-छटे मनुष्य भी उसमे अपना-अपना अश सम्मिलित करते चले गए। इस प्रकार एक समय ऐसा आया, तब व्यवसाय[४] आरम्भ करने के हेतु जो कुछ (पूँजी) की आवश्यकता थी उसकी आपूर्ति[५] हो गई। आप जानते है कि जब तक कुछ भागीदार अपने अंश का रुपया न दे दे तब तक व्यापार-व्यवसाय शुरू नही हो सकता। जब हिस्सों की काफी सख्या की राशि प्राप्त हो गई, तब एक व्यक्ति ने—व्यवस्थापक ने—प्रबल मनुष्य ने सारा काम सँभाला। जब इस अति-

---

१. उत्तेजित करना = भडकाना।

२ प्रवाह = बहाव, धारा।

३ अनादृत = अपमानित।

४. व्यवसाय = धन्धा।

५. आपूर्ति = भरपाई।

शय प्रबल मनुष्य का अनादर हुआ, तो आत्मिक बन्धुभाव के नियम से प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-बीसवें—सैकड़ो मानवों के प्रेपित क्रोध — सबसे सब क्रोध अधिकारी कर्त्ता के हाथ में पहुँचकर—इसकी देह में आकर्षित होकर सघन हो गए। इस कर्त्ता ने इसका प्रयोग किया —मूल अपराधी पर घातक प्रहार किया—उसे बन्दूक से गोली मार दी—मूल अपराधी गोली से मारा गया और वह कर्त्ता अधिकारी शासन की दृष्टि मे अपराधी हो गया। सरकार या शासन[1] की ओर से अब इस अपराधी (गोली मारने वाले) को दण्ड मिलेगा; परन्तु परमात्मा की दृष्टि में—सत्य की नजरों में आप सभी इस अपराध में भागीदार[2] हो। आप सब हत्यारे हो। वैर भाव या द्वेप का संप्रेपण करते रहने वाले आप सब भी उतने ही अपराधी हैं, जितना वह व्यक्ति जिसने वध किया है।

ईसामसीह ने कहा है कि केवल वध से परहेज करने से गुजारा नहीं चलेगा; तुम्हें द्वेष के विचारों को प्रेषित करने से भी परहेज करना होगा। जो अपने संगी से नफ़रत करता है, वह भी उतना ही हत्यारा है, जितना कि वह मनुष्य जिसने वध किया हो।

जो लोग वध करते हैं, वे अनादर के अनुपात मे बहुत अधिक क्यो भड़क जाते है? अपमान अत्यन्त साधारण होता है, परन्तु क्रोध की ज्वाला प्रचण्ड उत्तेजित होती है। इसमें आप देखेंगे कि केवल व्यक्तिगत रोष ही नही भभकता; बल्कि आपके भाइयों का क्रोध भी आपके पास आ पहुँचता है, वह आपको दबाता है, आपको अपने आपे में नही रहने देता, दीवाना बना देता है; आप पागल हो जाते हैं। आपको अपने उन संगी-साथियों का क्रोध अपने वश में कर लेता है,

---

१. शासन=हुकूमत, राज्य।
२. भागीदार=हिस्सेदार।

जिनका मूल अपराधी ने पहले अपमान किया था। जैसे किसी पर भूत सवार हो, वैसे ही आप पर साथियो का क्रोध सवार रहता है। जब आप इसके वश मे हो जाते है, तो सोचने की शक्ति आप में नही रहती, आप बावले हो जाते है। उसी अवस्था में आप इस प्रकार की चोट करते हो जो नाशक हत्या सिद्ध होती है। लोग चकित होते है कि अपमान की तुलना मे रोष की मात्रा इतनी अधिक कैसे हो गई कि इसने वध कर डाला! इसी प्रकार संसार में हत्यारो का जन्म होता है।

ससार के इतिहास का अध्ययन[१] कीजिए, आपको विदित[२] होगा कि आतक[३] या दमन के शासन के अनन्तर सभी लोगों ने एक इस तरह के मानव की कामना की, जो बडी कठोरता—निर्दयता से शासन का काम चलाने मे समर्थ हो। जो उद्दण्ड[४] जन-समूह को कठोरता से वशवर्ती कर सके। प्रत्येक ने उद्दण्ड जन-समूह को काबू में करना चाहा, परन्तु उनमे से किसी मे भी इतनी सामर्थ्य नही थी। अब प्रत्येक मे—सभी में यह आकाक्षा थी कि इस प्रकार का मनुष्य प्राप्त हो, जो विद्रोहियो को कुचलकर वशवर्ती बनाए, यह इच्छा नेपोलियन की देह मे मूर्त्त रूप धारण करके प्रकट हुई। नेपोलियन ऐन उसी वक्त आया, जब उसकी जरूरत थी। उसमे सहस्त्रो—नही, लाखो की शक्ति थी।

नेताओ में, नायको मे, वीरो में लाखो व्यक्तियो की शक्ति-ताकत-सामर्थ्य होती है। एक पूरी फौज नेपोलियन को गिरफ्तार करने को

---

१. अध्ययन करना=पढना।

२. विदित=मालूम।

३. आतक=भय दिखाकर दबाना।

४ उद्दण्ड=उच्छृ खल, जो किसी नियम की परवाह न करे।

आई। नेपोलियन अकेला ही—सीधा उसके पास पहुँचकर बोला—"ठहरो !" और सभी सैनिक रुक गए। यह एक मानव उन सहस्रों[1] मनुष्यो को जो उसे पकडने के लिए आए थे, डाँट कर चुप करा देता था।

इस प्रकार की सच्ची बातों को सुनकर लोग हैरान रह जाते है। वेदान्त इसका विश्लेषण[2] करता है। वेदान्त का कथन है कि वस्तुत.[3] सहस्रो मनुष्यो की शक्ति-सामर्थ्य[4]-भावनाएँ एक मानव मे संचित हो गए है। वस्तुत: सहस्रो व्यक्तियो के विचार उस मनुष्य के मस्तिष्क मे जमा हो गए है।

इस तरह नेपोलियन को क्या किसी भी नेता को अधिकार नहीं कि आत्मप्रशसा[5] की भावनाओं को अपने मन मे पनपने दे।

हे नेता ! यदि तुममें लाखो मनुष्यों की शक्ति विद्यमान है, तो तुम लाख हो। यदि तुम्हारी देह मे लाखो के विचार सक्रिय हैं। तुम्हारी विशेषतया पोषित देह कहाँ है ? लाखो के शरीर तुम्हारा विराट् दिव्य शरीर हे। ये लाखों मनुष्य हैं, जो तुम्हारे अन्दर कार्य कर रहे हैं।

आप शेक्सपीयर—महान् नाटककार को देखते हैं। इस समय किसी को शेक्सपीयर की आवश्यकता नही, किन्तु उस समय लोगों को शेक्सपीयर की जरूरत थी, सो शेक्सपीयर प्रकट हुआ। वे थियेटर में

---

१. सहस्रो=हजारो।
२. विश्लेषण=छानबीन, जाँचपरख।
३. वस्तुत.=असल मे।
४. सामर्थ्य=ताकत।
५. आत्मप्रशसा=अपनी तारीफ आप करना।

जाने के दिन थे। उन दिनों सब लोगों को रगमंच[1] का नशा था। अत: उन दिनो लोगो को नाटककार की जरूरत थी। नाटकों की चाह थी। लोगो को नाटको की कामना[2] थी, लोगो के ही हृदयो—भावो को शेक्सपीयर ने प्रकट किया। लोगो के मन ही शेक्सपीयर के रूप मे व्यक्त[3] हुए। आप या शेक्सपीयर या अन्य कोई महान् मनुष्य अकेला प्रकट नही होता।

शेक्सपीयर के साथ हम लोग तेजस्वी पुरुषो, प्रतिभाशालियों,[4] तत्त्वदर्शियो[5]—उदाहरणत मार्लो, बिआऊमोट, फ्लैचर तथा कौन-कौन नही—एक पूरा निर्मल प्रवाह देखते है। उसी प्रकार के साहित्य का पूर्ण साम्राज्य हमे दिखाई देता है।

इन विषयो की परिस्थितियाँ, वातावरण, जनमानस विचारों को प्रेरणा प्रदान करते है। उस ओर जनमानस अपने विचारो का सम्प्रेषण करता है। रसायनशास्त्र की बन्धु भावना के सिद्धान्त के अनुसार एक देह मे सगृहीत होते जाते है। तब आपको एक शेक्सपीयर मिलता है। वह मधुर वाणी वाला शेक्सपीयर या आपके भाषणकर्ता, जो बड़ी-बड़ी सभाओं को आकर्षित कर लेते है, एक व्यक्ति जो सहस्रो को वश मे रख सकता है, एक वीर सेनापति जिसका आदेश सहस्रों-लाखो के लिए अकाट्य नियम हो जाता है, एक मानव जो लाखो-करोड़ों जनों में उद्योग-साहस और कर्मठता का शख फूँक देता है, ये सब किस प्रकार उत्पन्न हो सकते, यदि

---

१. रगमच=स्टेज, थ्येटर।

२. कामना=इच्छा।

३ व्यक्त=प्रकट।

४. प्रतिभाशाली=चमत्कारी बुद्धि वाला।

५. तत्त्वदर्शी=संसार की सच्चाइयाँ जानने वाला।

लाखों विभिन्न[1] शरीरों के विचार तथा भाव उस एक में न संचित[2] हुए होते ?

आप देख सकते हैं कि शेक्सपीयर तथा नेपोलियन आपकी अपनी ही रचना हैं। उनका सृजन आप ही करते हो। आपकी मनोभावनाएँ, आपके ख्याल, आपके विचार उस एक व्यक्ति के बन जाते हैं। इतिहास से सच्चाइयाँ सिद्ध[3] होती हैं। तथा इन्हें हम प्रतिदिन भी अपने इर्दगिर्द होते देखते हे।

इस तरह मनोवैज्ञानिक रूप मे भी तुम सब (मानव-मात्र) एक हो।

जेरुसलम पर कब्जा करने के लिए ईसाइयों के धर्मयुद्धों (Crusades) का क्या कारण था ? एक मानव को जेरुसलम की दुर्दशा[4] पर पर गहरा दु:ख हुआ। वह यूरोप वापिस गया, तो उसने वहाँ के लोगों को दुर्दशा की बात बताई। उसने इसका धुआंधार प्रचार किया। वह रोया-चिल्लाया—क्रन्दन[5] करने लगा।

एक मनुष्य को व्यथा हुई और वह सब लोगो की वेदना[6] बन गई। एक के भाव अन्य सबके भाव बन गए। उन सभी ने तुर्कों तथा मुसलमानो के खिलाफ हथियार उठा लिए। इस प्रकार ईसाई धर्मयुद्धो (Crusades) का सूत्रपात[7] हुआ।

---

१. विभिन्न=भिन्न-भिन्न।
२. संचित=जमा।
३. सिद्ध=साबित।
४. दुर्दशा=बुरी हालत।
५. क्रन्दन=रुदन, रोना।
६. वेदना=पीड़ा, दुख-दर्द।
७. सूत्रपात=आरम्भ।

अमेरिका का स्वतन्त्रता-संग्राम[१] किस प्रकार आरम्भ हुआ ? वह भी इसी प्रकार हुआ। एक मानव ने, अमेरिका की प्रथम[२] काग्रेस के प्रधान ने, जब लोग इसके साथ सहमत न हुए, तो तलवार निकाल ली। उसने म्यान से तलवार खीचकर कहा—"मै अकेला सग्राम, सग्राम के पक्ष मे हूँ।" इसके बाद सब लोगो को उसकी बात का समर्थन करना पडा। कांग्रेस के उन्ही जनो को, जो लड़ाई के खिलाफ थे, उस वीर के पीछे चलने को बाध्य[३] होना पड़ा । इस तरह आप देख सकते है कि यदि आपके मन-चित्त एक न हो, तो ऐसे अद्भुत[४] करिश्मे के कर्त्ता वे लोग कैसे बन सकते है ?

हम एक है, इस एकता की प्रतीति[५] कीजिए—इसका अनुभव कीजिए।

अब हम एक अन्य धरातल पर पहुँचकर विचार करते है। आप देखते है कि गहरी नीद की स्थिति मे आप सब एक है। सुषुप्ति[६] सब मनुष्यो को एकसमान बना देने वाली महान् शक्ति है। सुषुप्ति-अवस्था मे किसी तरह का भेद-भाव नही प्रतीत होता, भले ही कोई राजा हो अथवा रंक,कोई मखमली गदेलो पर सोने वाला सम्राट् हो अथवा गली-राह की पटरी पर सोने वाला कगाल भिखारी। सुषुप्ति दशा मे उन दोनो पर विचार कीजिए। क्या अन्तर है दोनो मे ? दोनो एक है, वही है। आप सब अपनी प्रगाढ़-निद्रा की अवस्था मे एक है। आपकी जागृत-स्थिति मे आप सबके शरीर एक है तथा

---

१ स्वतन्त्रता-सग्राम=आजादी की लडाई।
२. प्रथम=पहली।
३. वाध्य=मजवूर।
४. अद्भुत=अनोखे।
५ प्रतीति=अनुभव, अनुभूति।
६. सुषुप्ति=गहरी नीद।

आपके चित्त, आपकी मनोवृत्तियाँ, इस स्वप्न लोक में रहते हैं, सब एक है।

अब हम सत्य आत्मा अथवा वास्तविक तन्त्र के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। अरे! आत्मा तो एक है, वास्तविक[1] तत्त्व, सत्य स्वरूप एक है। इस एकता को भाषा व्यक्त[2] नहीं कर सकती। यहाँ भिन्नता के किसी वाक्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यहाँ तरंग (लहर) शब्द भी प्रयुक्त[3] नहीं हो सकता। आत्मा-दृष्टि से आप सब एक हैं।

आप कहेंगे—"नहीं, मेरा पुत्र 'मेरा' है; परन्तु यह मनुष्य मेरा नहीं है।" यदि आपकी विचारधारा[4] यही है तो यह आपकी भूल है। आप जिन्हें पराया समझते हैं, वे उतने ही आपके अपने हैं, जितना कि आपका बेटा अपना है।

आपके विगत[5] जन्मों में कितनी ही बार आपका उनसे भाई, बेटा, बेटी या बाप का सम्बन्ध रहा होगा। क्या आपको इसका ज्ञान है? वही आदमी जो आज आपका दुश्मन है, बीते जन्म में सम्भव है आपका बाप या बेटा रहा हो। इस जीवन में जो आपका पिता है, सम्भव है वह आगामी जन्म में आपका पिता न हो। अपने आगामी जन्म में आपके भिन्न माँ-बाप होंगे। आपके विचार तथा भाव निरन्तर परिवर्तित[6] होते रहते हैं, उसी प्रकार आपके दोस्त, रिश्तेदार, बहन-भाई भी लगातार बदलते रहे हैं। क्या इस प्रकार नहीं होता कि एक ही व्यक्ति कुछ बालकों और बालिकाओं के संग जन्म ग्रहण

१ वास्तविक=असली।

२. व्यक्त=प्रकट।

३. प्रयुक्त=इस्तेमाल

४. विचारधारा=विचारों का प्रवाह।

५ विगत=बीते हुए।

६. परिवर्तित होना=बदलना।

करता है तथा अपना सारा जीवन उनसे पृथक् रहता हुआ व्यतीत करता है। अपने जीवन मे उन्हे देखने, भेट करने का उसे अवसर नही मिलता।

क्या ऐसा नही होता कि एक व्यक्ति इस देश मे जन्मता तथा किसी अन्य देश मे जीवन व्यतीत करता है? क्योकि जो लोग दूसरे देश मे, जहाँ वह जीवन बिताता है, उत्पन्न हुए थे, वे उसके आध्यात्मिक सम्बन्धी थे। इस तरह प्रकट है कि आपको अपना भ्रातृभाव[1] उन्ही व्यक्तियो तक सीमित[2] नही रखना चाहिए, जिन्हे आप अपना भाई, अपनी बहन, अपना पति या अपनी पत्नी कहते है। सब मनुष्य, सारे लोग, सकल मानव अपने है, आपके अपने, आपका अपना ही स्वरूप—आत्मरूप। विज्ञान द्वारा यह बात प्रमाणित होती है।

विज्ञान[3] साफ बतलाता है कि जिस प्रकार यह एक विशेष शरीर, जिसे आप अपना मानते है, एक है—पॉव का अगूठा तथा उँगलियाँ एडी से जुडे हुए हैं, तथा एडी देह के अन्य अगो-उपागो से सयुक्त है, तथा आपकी देह के तमाम अगो मे अनुवर्तन सिद्धान्त काम कर रहा है, तुम्हारी देह एक है, समूची एक है, इस आधार पर आप देखते है कि केवल एक ही शक्ति अर्थात् आत्मा है, जो एड़ी से चोटी तक व्याप्त है। वही आत्मा पॉवो मे है, वही हाथो में, वही अन्य अगो-उपांगो मे।

विज्ञान यह सिद्ध करता है कि इस जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थो का पारस्परिक[4] सम्बन्ध इस प्रकार का है कि यदि न्यूनतम विकसित

---

१ भ्रातृभाव=भाईपने की भावना।

२ सीमित=महदूद।

३ विज्ञान=साइस।

४. पारस्परिक=आपसी।

जीव बीज (Protoplasm) के समीप हम उच्चतर स्वरूप वाला जीव बीज रख दें, तथा उसके उपरान्त हम उससे भी ऊँची किस्म (स्तर) का जीव-बीज रख दे, तथा इसी प्रकार उच्च से उच्चतर जीव-बीज रखते चले जाएँ तथा इस संसार की हर एक चीज़ को क्रमवार (तरतीबवार) रख सकें, तो इस संसार में हम प्रत्येक पदार्थ मे अनुवर्तन संचरित होता देख सकते हैं। हम देखते है कि समस्त विश्व को इसी अखंड अनुवर्तन ने धारण कर रखा है। जब ऐसी स्थिति है, तो स्पष्ट है कि समस्त संसार एक अखण्ड पिण्ड या शरीर है। जिस तरह आप अपनी देह के विषय में यह मानने के लिए विवश[1] है कि एक ही 'आत्मन्' कानो तथा पांवों मे समान रूप से निरन्तर व्याप्त है, उसी तरह इस समस्त[2] ससार मे, जो एक अखण्ड[3] शरीर (पिण्ड) है, आपको मानना पड़ेगा कि एक ही आत्मा व्याप्त है, जो अति सूक्ष्म परमाणु से लेकर श्रेष्ठतम देवता तक में व्याप्त अथवा ओतप्रोत है। इसी प्रकार सर्वोच्च[4] देवता की भी आत्मा वही है, जो तुच्छातितुच्छ कीटाणु की आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा तत्त्व के दृष्टिकोण से भी सभी मनुष्य एक हैं।

मानव मात्र के भ्रातृभाव की सिद्धि[5] के लिए कुछ तर्क या युक्ति-प्रमाण आपके सम्मुख एक सीमा तक रखे जा चुके हैं। अब राम इस बात पर बल देता है कि इस सत्य को व्यवहार में लाया जाए—इस पर अमल किया जाए।

---

१. विवश=मजबूर।
२. समस्त=सारा।
३. अखण्ड=अटूट।
४. सर्वोच्च=सबसे ऊँचा, महान।
५. सिद्धि=साबित करना।

भले ही आप इस तथ्य को बुद्धि द्वारा अगीकार[1] न भी करे, तथापि धर्म के नियम आपको बाध्य करेगे कि आप इस तथ्य को स्वीकार करे। या तो आपको अपने जीवन मे इस तथ्य को अमल में लाना होगा, अथवा मरना होगा। अन्य उपाय नही है।

यह हाथ है। एक बार यह स्वार्थी हो गया। इसने भ्रातृभाव अथवा ऐक्य के नियम को भग करने का प्रयत्न किया। वह इस तरह की युक्तियाँ देने लगा—

"यह मै ही हूँ, जो दिन-भर कार्य करता हूँ। परन्तु मेरी मेहनत का सम्पूर्ण लाभ या तो उदर प्राप्त करता है, अथवा देह के अन्य अंग उसे ले लेते है। मै कुछ भी नही खाता। मै दाँतो को, जीभ को, मुँह को सारा लाभ नही लेने दूँगा। मै प्रत्येक वस्तु अपने पास रखूँगा।" इस तर्क[2] के उपरान्त[3] हाथ इसे प्रयोग मे लाने को तत्पर हुआ। जो खाना मेज पर परोसा गया था—दूध, अनाज, मांस, व्यजन, शाक-भाजी, फल आदि—वे सब अब हाथ को स्वय खाने चाहिए—अपने पास रख लेने चाहिए—उसे अपने श्रम[4] का लाभ स्वय उठाना चाहिए। हाथ ने एक पिन लेकर एक छेद अपने ही किया और उसमे दूध उलट दिया। उसने सोचा—मुँह दूध का लाभ न प्राप्त कर सके। हाथ बीमार हो गया—वह सूज गया। हाथ को क्या लाभ हुआ ? एक अन्य उपाय था। अपने को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए हाथ ने मधु को ग्रहण करने की इच्छा की। मधु आता है मधुमक्खियो से। हाथ

---

१. अगीकार=स्वीकार।

२ तर्क=दलील।

३ उपरान्त=वाद।

४. श्रम=मेहनत।

ने मधुमक्खियाँ पकड़कर अपने को उनसे दंश कराया। हाथ खूब मोटा ताजा हो गया।

परन्तु हाय! इससे तो उसे असह्य पीड़ा होने लगी। जब हाथ को बहुत पीड़ा होने लगी, तो कुछ समय उपरान्त उसकी बुद्धि सीधे रास्ते पर ले आई। तब हाथ बोला—"मैं जो कुछ कमाता हूँ, वह सिर्फ मुझे ही नहीं प्राप्त होना चाहिए। वह सब उदर[1] में जाना चाहिए, तथा वहाँ से लहू के द्वारा, हाथों-पैरों को, शरीर के अंग-प्रत्यंग को, पहुँचना चाहिए। तब और केवल तभी मैं अपना उचित लाभ प्राप्त कर सकता हूँ।"

इसके सिवाय कुछ उपाय नहीं है। ऐसा होने पर ही हाथ की भलाई हो सकती है। अब हाथ यह मानने के लिए विवश हो गया कि हाथ की आत्मा उसके (हाथ के) इस सीमित क्षेत्र में बन्दी नहीं है। हाथ की आत्मा का हित तभी होगा, जब सम्पूर्ण देह की आत्मा का हित होगा, जब नयनों की आत्मा का कल्याण होगा। हाथ की आत्मा वही है, जो नयनों की आत्मा है। हाथ की आत्मा वही है जो सारी देह की आत्मा, कानों की आत्मा—शरीर के अंग-प्रत्यंग की—अणु-अणु[2] की आत्मा है। इसलिए हाथ ने जिस प्रकार का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार स्वार्थी बन जाने का प्रयत्न करने से आपको उसका बुरा फल भोगने को बाध्य[3] होना पड़ेगा। जैसे कि अपनी स्वार्थ-परायणता[4] का दुष्परिणाम[5] हाथ को भोगना पड़ा था।

---

१. उदर=पेट।
२. अणु-अणु=ज़र्रा-ज़र्रा।
३. बाध्य=विवश।
४. स्वार्थ-परायणता=अपना मतलब पूरा करना।
५. दुष्परिणाम=बुरा नतीजा।

दिव्य नियम आपको इस बात की अनुमति नही दे सकता कि आप अपने को अपनी श्रेणी से अलग-थलग कर ले । जब आप अपने को अपने सगियो से भिन्न मानते है, तब आप परम पावन सत्य के नियम का उल्लघन[१] करते है । प्रकृति को यह स्वीकार्य नही ।

जो व्यवसायी अपने ग्राहकों के हित को अपना ही हित नहीं समझते, या जो दूकानदार अपने ग्राहकों के स्वार्थो को अपने स्वार्थो से अविच्छिन्न[२] नहीं मानते, उनसे ग्राहक दूर भागते है । इस प्रकार के व्यापारी और दूकानदार अपना काम चौपट कर लेते है ।

आपको अपने जीवन मे इस सच्चाई को अनुभव मे लाना होगा। तभी और केवल तभी आप पुष्पित-पल्लवित[३] हो सकेंगे ।

अरे हाथ! तेरी आत्मा समस्त ससार की आत्मा है। तेरी आत्मा नयनो, पॉवो, दॉतो, कानो और देह के अन्यान्य[४] अगोपांगों की आत्मा है।—आप इस प्रकार की प्रतीति[५] करे। इस प्रकार की अनुभूति को आप हृदयगम करे ।

यदि आप अपने को व्यथा तथा कष्ट से बचाये रखना चाहते है, यदि और सुख तथा आनन्द पाना चाहते है, तो प्रत्येक के साथ अपनी अभिन्नता (एकता) का अनुभव कीजिए ।

आपका आचरण—आपका अनुभव—आपका अमल इसको स्वय प्रमाणित[६] करेगा कि जब आप इस अभेद (ऐक्य) का अनुभव करते

---

१ उल्लघन=लॉघना, तोडना ।

२ अविच्छिन्न=जो अलग न किया जा सके ।

३ पुष्पित-पल्लवित होना=फलना-फूलना ।

४ अन्यान्य=और-और ।

५. प्रतीति=अनुभव ।

६ प्रमाणित=सिद्ध, साबित ।

हैं, जब इस सच्चाई पर अपने मन को केन्द्रित करते हैं, तब आपके इर्दगिर्द के लोग उसी तरह आपकी सहायता के लिए आने को विवश होते है, जिस तरह किसी अग में पीड़ा या खाज होने पर हाथ स्वय-मेव वहाँ सहायता करने पहुँचता है ।

इसी प्रकार यदि आप यह अनुभव करे कि आपकी वास्तविक प्रकृति वही है, जो आपके संगी-साथियो की है, और जरूरत के समय उनका व्यवहार आपके प्रति वही होता है, जैसे कि स्वयं आपके अपने आपका, तो आवश्यकता पड़ने पर वे संगी-साथी स्वय-मेव आपकी सहायता के लिए दौड़े आएँगे ।

यह एक सत्य है जिसकी सत्यता की परीक्षा केवल अनुभव से, प्रयोग से, अमल से ही हो सकती है—और किसी प्रकार नही ।

१. कोई मानव तब तक सर्वरूप परमेश्वर के साथ अपनी अभिन्नता का कभी भी अनुभव नही कर सकता, जब तक सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ अभिन्नता उसकी देह के रोम-रोम में जोश न मारने लगे ।

२. प्रत्येक मानव एक झरना है, जिससे स्वर्ग बह कर आता है ।

प्रत्येक मनुष्य रत्न है

हिन्दुओं के मत में हर एक मनुष्य ब्रह्म है, एक बेशकीमती रत्न है, परम आनन्द है, सब गुणो का स्रोत[1] है । हर एक मानव स्वयं[2] ब्रह्म है, स्वयं सब कुछ है ।

सवाल यह है कि यदि यह सत्य है, तो मनुष्य दुःख क्यों पाते है ? वे दुःख इसलिए पाते हे कि उनके पास उपाय या युक्ति नहीं

१. स्रोत=झरना ।

२. स्वयं=खुद ।

है—कारण यह नही कि उनके अन्त करण[1] मे आनन्द का भण्डार नही; यह कारण भी नही कि उनके भीतर अमूल्य रत्नो का अभाव है। अपितु[2] कारण यह है कि वे उस गठरी को खोलने की आकाक्षा[3] नही रखते; जिसके अन्दर वह बहुमूल्य धन रखा हुआ है। वे उस पिटारी को खोलना नही जानते, जिसमें वे अमूल्य रत्न भरे हुए हैं।

लोग अपनी आत्मा मे प्रविष्ट होना—अपने ही सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार करने की विधि से अनभिज्ञ है।

सभी धर्म केवल आत्मा के प्रकाशन के प्रयास हैं। हमारे अन्दर अमूल्य रत्न विद्यमान[4] है। उन पर हमने स्वयं अपने हाथों से, अपनी ही कोशिशों से पर्दा डाला हुआ है। यही कारण है कि हम अपने आपको दीन, हीन, मलीन, अभागा मान लेते है।

इमर्सन ने कहा है—"वस्तुत.[5] प्रत्येक मानव परमात्मा है; किन्तु मूर्खो के सदृश[6] अभिनय[7] कर रहा है।"

हमारी आँखो पर जो पर्दा पड़ा हुआ है, उसे हटाने भर की देर है। इस पर्दे को हटाने के प्रयत्नो का ही नाम मत, पन्थ अथवा सम्प्रदाय[8] है। कुछ पन्थ इस पर्दे को अति सूक्ष्म करने में अधिक सफल हुए हैं; परन्तु सभी मतो-सम्प्रदायो मे निर्मल प्रवृत्ति तथा सत्य भावना से युक्त व्यक्ति होते है तथा जहाँ कही शुद्ध-वृत्ति तथा सच्ची

---

१. अन्त करण=हृदय।
२ अपितु=बल्कि।
३. आकाक्षा=इच्छा।
४. विद्यमान=मौजूद।
५. वस्तुत =असल मे।
६ सदृश=समान।
७. अभिनय=एक्टिग।
८. सम्प्रदाय=मजहब।

भावना विद्यमान रहती है, वहाँ उतने काल के लिए, पर्दा भले ही मोटा हो या बारीक—वह हट जाता है तथा आत्मतत्त्व का आभास[१] दृष्टिगोचर होने लग जाता है।

मान लो, यह एक पर्दा या घूँघट है। यह नयनो के सम्मुख है। हम पर्दे को हटाकर देखने में समर्थ होते है, किन्तु पर्दा पुन: नयनों के सम्मुख आ जाता है।

एक अन्य स्थिति में परदे को झीना (महीन) कर लिया जाता है। इस प्रकार की दशा में भी पर्दे को परे हटाया जा सकता है, परन्तु वह पुनः नयनों के सम्मुख आ जाता है। उसे सर्वदा के लिए नयनों से दूर करना शक्य नही। इसे अब और भी महीन कर लिया; इस दशा मे भी इसे अल्पकाल[२] के लिए ही परे हटाना सम्भव है। जब पर्दे को सर्वथा सूक्ष्म कर लिया जाए, तो व्यावहारिक दृष्टिकोण[३] से वह पर्दा, पर्दा नही रहता। इस प्रकार के अतिसूक्ष्म[४] पर्दे के होने पर भी हम परम आनन्द चख सकते हैं। हम परमात्मा के आमने-सामने हो जाते है। नही, हम आप ही परमेश्वर रूप हो जाते हैं।

इस स्थिति में विश्व[५] की कोई भी चीज हमारे सुख-आनन्द में बाधा[६] डालने वाली नही हो सकती। हमारे पथ को कोई भी वस्तु रोकने मे असमर्थ है। अज्ञान रूपी पर्दे को पतले से पतला—सूक्ष्माति-सूक्ष्म[७] करने वाले तथा व्यावहारिक जीवन मे भी ज्ञानवान्[८] को

---

१. आभास=झलकना, अनुभव होना।
२. अल्पकाल=थोड़ा समय।
३. दृष्टिकोण=नज़रिया।
४. अतिसूक्ष्म=बहुत बारीक।
५. विश्व=संसार।
६. बाधा=रुकावट।
७. सूक्ष्मातिसूक्ष्म=बारीक से बारीक।
८. ज्ञानवान्=ज्ञानी।

आनन्द-दर्शन का सुख प्रदान करने वाले वेदान्त मे अन्य मतो की अपेक्षा यही विशिष्टता है ।

समस्त धर्म मतो के अनुगामी समय-समय पर परमेश्वर वाले हो सकते है । उतने समय के लिए वे अपने नयनो पर से पर्दा, भले ही वह झीना हो या मोटा, परे करने मे समर्थ होते है, जितने काल तक वे परमात्मा वाले रहते है। एक वेदान्ती भी यही करने मे समर्थ हो सकता है । वह अपने को आनन्दयुक्त दशा मे ला सकता है । वह उस दृष्टि का आनन्दोपभोग कर सकता है, जिस दैवी दृष्टि का सुख स्थूल पर्दे वाले को प्राप्त नही होता ।

इस जगत् में सम्पूर्ण[१] मत, जिनमे भारत के नाना[२] पन्थ[३] भी सम्मिलित है, तीन प्रधान भागो मे बाँटे जा सकते है । सस्कृत मे इन्हें इस प्रकार कहा गया है—

१. तस्यैवाहम् ।

२. तवैवाहम् ।

३ त्वमेवाहम् ।

१ **तस्यैवाहम्**—इसका अभिप्राय[४] है—'मै उसका हूँ ।' इस प्रकार के पन्थ मे पर्दे की मोटाई सबसे ज्यादा होती है ।

२ **तवैवाहम्**—यह धर्म मतो की दूसरी स्थिति है । इसका अर्थ है—'मैं तेरा हूँ ।' पन्थो या सम्प्रदायो[५] की प्रथम तथा द्वितीय स्थिति का अन्तर आपको ध्यान में रखना चाहिए। धर्म के पथ मे प्रथम प्रकार

---

१. सम्पूर्ण=सारे ।

२. नाना=अनेक ।

३. पन्थ=रास्ते, सम्प्रदाय ।

४. अभिप्राय=मतलब ।

५. सम्प्रदाय=मजहब ।

की वृत्ति का भक्त या उपासक, परमात्मा को अपने से दूर, दृष्टि से परे समझता है। वह परमात्मा की चर्चा अन्य पुरुष में करता है—'मैं उसका हूँ।' मानो वहाँ ईश्वर उपस्थित नही है। यह धर्म की साधना का आरम्भ है। यह भावना धर्म के प्रत्येक बालक के लिए माँ के दूध के तुल्य है। जब तक मानव एक बार इस दूध को नही पी लेता, तब तक वह धर्म के पथ पर अग्रसर होने में समर्थ नही हो सकता। 'मैं उसका हूँ, ईश्वर मेरा सब कुछ है'—इस भावना की अनुभूति[1] यदि मानव को हो जाए, तो क्या कुछ कम मधुर भावना है वह? ऐसा व्यक्ति प्रातः शीघ्र जागता है। तथा समझता है कि मेरे स्वामी ने मुझे जगाया है। अपने कार्यालय[2] के कार्यों को वह प्रियतम, भक्तों पर कृपालु परमात्मा की आज्ञा से प्राप्त हुए मानता है। वह समझता है कि समस्त[3] विश्व परमात्मा का है। वह अपने गृह[4] को, अपने परिवार को, अपने इष्टमित्रों को परमेश्वर का समझता है अथवा मानता है कि ये सब उसे परमात्मा की दया से प्राप्त हुए हैं। क्या इस प्रकार की भावना से ही यह संसार स्वर्ग में नही परिवर्तित[5] हो सकता? मानव मे सत्यता होनी चाहिए, उसे उत्कंठा[6] से—प्राणपण से यह समझना तथा अनुभव करना चाहिए कि मेरे इर्दगिर्द के सभी पदार्थ मेरे परमात्मा के है। यह शरीर भी उसी परमेश्वर का है।

---

१. अनुभूति=महसूस होना।
२ कार्यालय=दफ्तर।
३. समस्त विश्व=सारा ससार।
४. गृह=घर।
५. परिवर्तित होना=बदलना।
६. उत्कंठा=तीव्र इच्छा।

यदि इस विचार को पूर्णतया[1] हृदयंगम[2] कर लिया जाए, तो मानव को अद्भुत सुख, अवर्णनीय[3] प्रसन्नता तथा परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। इस उत्तम भावना की अनुभूति हो जाने पर तथा इसे व्यवहार मे लाए जाने पर—यह विचार या भाव ही पर्याप्त है, काफी मधुर है—किन्तु सिद्धान्त के दृष्टिकोण से यह पन्थ प्रारम्भिक है।

'तवैवाहम्' अर्थात् मै तेरा हूँ, मुझे प्रतिक्षण[4] तेरी आवश्यकता है, मैं तेरा हूँ, मैं तेरा हूँ—भक्ति-भावना की इस द्वितीय कोटि[5] की प्रथम कोटि से तुलना कीजिए।

प्रथम कल्पना मे माधुर्य था—परन्तु द्वितीय कल्पना मे उससे भी अधिक माधुर्य है। प्रथम स्थिति अत्यन्त प्रिय तथा रुचिकर थी; परन्तु द्वितीय स्थिति उससे भी ज्यादा मधुर तथा सुखदायी है। तनिक दोनो के अन्तर पर ध्यान केन्द्रित[6] कीजिए। उदाहरण की दृष्टि से पर्दा पहली स्थिति की अपेक्षा[7] सूक्ष्म (झीना) हो गया है। 'मै तेरा हूँ' इस विचार में परमात्मा की चर्चा अन्य पुरुष में नही की गई है। वह अनुपस्थित नही है, उसे पर्दे की ओट में नही कहा गया। वह साक्षात् सम्मुख आ गया है।

वह परमात्मा हमारे पास है, हमे प्रिय है। वह अब पहले की अपेक्षा हमारे अधिक समीप हो गया है। उससे हमारी ज्यादा घनिष्ठता स्थापित हो गई है।

---

१. पूर्णतया=पूरी तरह।
२. हृदयगम करना=हृदय मे जानना।
३ अवर्णनीय=जिसका वर्णन नही हो सकता।
४. प्रतिक्षण=हर घडी।
५. कोटि=दर्जा।
६. केन्द्रित=एकाग्र, एक जगह टिकाना।
७. अपेक्षा=बनिस्वत।

सिद्धान्ततः यह भावना अधिक ऊँची है, परन्तु अक्सर ऐसा होता है कि लोग इस पन्थ में विश्वास तो करने लग जाते हैं; तथा परमात्मा को अपना अत्यन्त परिचित, निकटस्थ मानने तथा सम्बोधित करने लगते हैं; परन्तु वास्तविक[1] तीव्र उत्कण्ठा तथा दृढ विश्वास उनका नही जमता।

व्यक्ति की धर्म-सम्बन्धी प्रगति[2] की प्रथम अवस्था में भी यदि उसका सजीव विश्वास हो, तो पर्दा अत्यन्त स्थूल[3] होते हुए भी कुछ समय के लिए दूर हो जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने निश्छल[4] मन से, अपने रुधिर की प्रत्येक बूँद से, इस भावना का साक्षात्कार[5] करने लग जाता है कि वह परमात्मा का है, अर्थात् उसका सब कुछ परमेश्वर का है, तो उसकी देह के रोम-रोम से यही भावना प्रवाहित[6] होने लगती है। तब सच्चाई, उत्सुकता, उत्साह उसके नयनो के सामने से पर्दा हटा देते है तथा वह परमात्मा में लय हो जाता है, परमेश्वर में, ब्रह्म भावना मे वह निमग्न हो जाता है। उस समय वह स्वयं परमात्म रूप हो जाता है।

कभी-कभी 'मैं तेरा हूं'—इस पन्थ में विश्वास रखने वाले मानव में भी सत्य विश्वास—सजीव श्रद्धा मौजूद नही होती। इसलिए वह परमात्मा के सम्मुख होने का पूर्ण आनन्द नही प्राप्त करता। किन्तु धार्मिक सिद्धान्त की इस द्वितीय अवस्था में भी उसी जीवित-जागृत

---

१. वास्तविक=असली।
२. प्रगति=उन्नति।
३. स्थूल=मोटा।
४. निश्छल=छल कपट से रहित।
५. साक्षात्कार=प्रत्यक्ष देखना-समझना।
६. प्रवाहित होना=बहना।

श्रद्धा, उत्कट आकाक्षा तथा दृढ विश्वास का सयोग हो, तो यह द्वितीय स्थिति—प्रथम स्थिति की अपेक्षा उच्चतर, श्रेष्ठतर है।

३ **त्वमेवाहम्**—यह तीसरे प्रकार का मार्ग या पन्थ, मजहब या सम्प्रदाय अथवा धर्म है। इसका अभिप्राय है—"मै तू ही हूँ।"

यह भावना हमे परमात्मा के कितना पास ले आती है! 'मै उसका हूँ'—इसमे परमात्मा दूर है। 'मै तेरा हूँ' मे परमेश्वर सामने है। वह हमारे बहुत पास है परन्तु धर्म की सबसे उन्नत अन्तिम दशा मे दोनो का अभेद[1] हो जाता है। प्रेमी प्रेम में लय हो जाता है। यही वेदान्त की अनुभूति[2] है। पतग तब तक दीपक के प्रकाश की ओर बढता है, जब तक वह अपने शरीर को भस्म करके आप ही प्रकाश रूप नही बन जाता। उपनिषद् के अर्थ है—उप=पास, नि=निश्चयपूर्वक, षद्=नष्ट हो जाना। परमात्मा का प्रेमी जब उसमें विलीन[3] हो जाता है, तथा अनजाने ही बिना प्रयास[4] किये, विना कामना[5] किये पुकार उठता है—'मै वह हूँ', 'मै वह हूँ', 'मै वह हूँ'—'मै तू हूँ'—'तू और मै एक हूँ', 'मैं परमेश्वर हूँ,—तब 'त्वम्' और 'अहम्' मे कुछ भी भेद नही रह जाता। यह सबसे ऊँची भक्ति की अवस्था है। इसे ही वेदान्त कहा जाता है, जिसका अभिप्राय है—ज्ञान की पूर्णता, सम्पूर्ण ज्ञान यहाँ आकर समाप्त हो जाता है। यहाँ आकर धर्म का अन्तिम उद्देश्य[6] प्राप्त हो जाता है। इस कोटि में-

---

१. अभेद=अभिन्नता।

२. अनुभूति=अनुभव।

३ विलीन=लय।

४. प्रयास=प्रयत्न।

५ कामना=इच्छा।

६. उद्देश्य=मकसद (Aim)।

यदि पर्दा इतना सूक्ष्म रह जाता है कि पर्दा होने पर भी सम्पूर्ण वास्तविकता को देखने में हम समर्थ होते हैं, तो कुछ मनुष्य इस प्रकार के है, जिनमें तीव्र आकांक्षा[1], चित्तशुद्धि, मन की एकाग्रता की कमी होती है, तो वे प्रत्यक्ष साक्षात्कार[2] का आनन्द प्राप्त करने में असमर्थ रह जाते हैं; क्योंकि वे पर्दे को दूर नहीं हटा पाते। जिनके अन्तर्बाह्य[3] में सत्यता है, वे मति के द्वारा इस स्थिति मे पहुँच जाने के उपरान्त[4], निदिध्यासन द्वारा इस निश्चय की अनुभूति करके पर्दा दूर हटाने में समर्थ होते है तथा पूर्ण आनन्द के दिव्य, स्वर्गिक अमृत का आस्वादन[5] करने लगते हैं। वे स्वयं परमात्म रूप—खुद ब्रह्म हो जाते हैं। इह-जीवन[6] में मुक्ति लाभ करके वे 'जीवन-मुक्त' नाम पाते हैं।

विचार को शुद्ध करने अथवा पर्दे को सूक्ष्म करने के लिए मुख्य रूप से बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। पर्दा दूर करने के लिए मनन तथा निदिध्यासन करना पडता है।

अव हमे इस पर विचार करना है कि भिन्न-भिन्न मतो के मनुष्यों लिए समय-समय पर पर्दे को दूर सरकाना कहाँ तक हो सका है। यहाँ दृष्टान्त के रूप मे कुछ हिन्दू-कथाएँ दी जा रही है।

एक वालिका थी। वह प्रेम में आसक्त[7] हो गई थी। उसका सम्पूर्ण

---

१. आकांक्षा=इच्छा।
२. प्रत्यक्ष साक्षात्कार=इन्द्रियों से देखना।
३. अन्तर्बाह्य=भीतर-बाहर।
४. उपरान्त=बाद मे।
५. आस्वादन=स्वाद लेना, चखना।
६. इह-जीवन=इस सांसारिक जीवन में।
७. आसक्त=लीन, अनुरक्त।

अस्तित्व[1] प्रेममय हो गया था। एक बार वह रुग्ण हुई। वैद्यो को बुलवाया गया। वैद्यो ने कहा इसे नीरोग करने का मात्र एक ही उपाय है कि इसका थोडा-सा रुधिर[2] निकाल दिया जाए। वैद्यो ने उसकी बाहो मे नश्तर लगाए। परन्तु अचम्भे की बात थी कि उसके शरीर मे से तनिक भी रुधिर न निकला। परन्तु इससे बढ़कर अचरज की बात थी कि तत्काल[3] उसके प्रेमी की बाहो की चमडी से रक्त[4] बहने लगा। दोनो मे कितनी आश्चर्यजनक अभिन्नता[5] थी! आप इसे दन्तकथा[6] अथवा कपोल-कल्पना कह सकते है, परन्तु यह बात सच्ची भी हो सकती है। प्राय॰ वे लोग जिन्हे प्रेम की अनुभूति होती है, भले ही वे निम्नकोटि के क्यो न हो, अपने जीवन द्वारा कभी-कभी ऊपर लिखी विचित्र घटना सत्य कर दिखाते है। वह बालिका अपने जीवन मे, निज व्यक्तित्व का सर्वथा विस्मरण कर चुकी थी। उसने अपने प्रिय से अपने को अभिन्न[7] कर लिया था। तथा प्रिय ने भी उस प्रेमिका के प्रेम में अपने को पूरी तरह लय कर दिया था।

परमेश्वर से इसी तरह की अभिन्नता कर पाना धर्म है कि उसका आत्म मेरा आत्म हो जाए।

हिन्दू-धर्म ग्रन्थ योगवासिष्ठ मे हमे एक नारी की कथा प्राप्त होती है। उसे अग्नि मे डाल दिया गया था। मनुष्यो ने देखा कि

---

१ अस्तित्व=सत्ता, हस्ती।
२ रुधिर=लहू।
३ तत्काल=तुरन्त।
४. रक्त=लहू।
५. अभिन्नता=एकता।
६. दन्तकथा=सुनी-सुनाई कथा।
७. अभिन्न=एक, अलग नही।

आग उसे जला नहीं सकी। उसका प्रियतम अग्नि मे डाल दिया गया; परन्तु आग ने उसे भी नही जलाया। क्या कारण था ? उन दोनो को नदी में फेका गया ; परन्तु वे नहीं वहे। उन्हें पर्वतों के शिखरों[1] से धक्का दे दिया गया ; परन्तु उनका वाल भी वाँका न हुआ। यह कैसे ? उस समय वे इसका कारण वताने में असमर्थ रहे। वे निज-व्यक्तित्व[2] से ऊँचे उठे हुए थे, वे ऐसी अवस्था में थे कि उनके पास तक संसार का और कोई भी सवाल नही पहुँच सकता था। वहुत समय के वाद जव उनसे कारण पूछा गया, तो उन्होंने वताया— "हम दोनों को उस काल एक-दूसरे के सिवाय अन्य कुछ भी दृष्टि-गोचर[3] ही नही हो रहा था। हम दोनो का ध्यान एक-दूसरे में पूर्ण-तया केन्द्रित था। न हमे आग दिखाई देती थी, न वायु। हम दोनों के लिए उस समय वस प्रेमी और प्रेमपात्र ही थे।"

उस तरुणी को आग अपना प्रियतम प्रतीत[4] हुई। प्रिय को आग अपनी प्रियतमा। तरुणी को जल अपना प्रियतम लगा और युवक को जल प्रियतमा प्रतीत हो रहा था। न पाषाण उनके लिए पाषाण थे, न शरीर उनके लिए शरीर थे—सव कुछ प्रिय-प्रिया रूप था। फिर उन्हे किस तरह हानि पहुँच सकती थी ?

हिन्दुओं के पुराणो मे एक वालक (प्रह्लाद) की कथा लिखी है। उसका पिता महाराजाधिराज[5] था। वह पुत्र को धर्म-पथ मे निवृत्त करना चाहता था। उसकी इच्छा थी—'मेरा पुत्र मेरे समान ससारी वने।' परन्तु पिता के डराने-धमकाने का वालक पर कुछ भी प्रभाव

---

१. शिखर=चोटी।
२. व्यक्तित्व=शख्सियत।
३. दृष्टिगोचर होना=दिखाई देना।
४. प्रतीत=महसूस।
५. महाराजाधिराज=राजाओं का राजा, सम्राट्।

न हुआ। पिता के सभी प्रयत्न वृथा हुए। बालक को उसके श्रेष्ठ निश्चय से विचलित[१] करने के लिए पिता ने सबसे पहले उसे अग्नि मे फेका, परन्तु अग्नि उसे जला न सकी। तब पिता ने उसे नदी के प्रवाह मे फेका, परन्तु जल ने उसे न बहाया। उसे अग्नि, जल आदि पंचभूत[२] कुछ भी हानि न पहुँचा सके। बालक माया-मोह को ध्वस्त[३] करके शरीर के अभिमान से मुक्त होकर अपने को वास्तविक[४] अवस्था में ले आया था। उसके लिए हर एक चीज परमात्मा थी, प्रेम रूप थी। उसे अपने इर्दगिर्द सच्चिदानन्द परमेश्वर के सिवाय और कुछ भी दृष्टिगोचर नही हो रहा था। पिता के धमकाने, झिडकने, क्रुद्ध होने, द्वेष करने—आदि मे, पचभूतो के कोप में—सर्वत्र उसे परमप्रिय परमात्मा की मुस्कराहट ही दिखाई पड़ती थी। उसके लिए धमकियाँ, क्रोध-भरी दृष्टि, खड्ग[५] तथा अग्नि की लपटे सुन्दर स्वर्ग थी। फिर उसे अपने उपास्यदेव से किस प्रकार हानि पहुँचती ?

कुछ समय पूर्व एक हिन्दू साधू हिमालय पर्वत के घोर घने वन मे, गगा के किनारे पर बैठा हुआ 'शिवोऽहम्', 'शिवोऽहम्' जाप कर रहा था। दूसरे तट पर कुछ अन्य साधू बैठे देख रहे थे। अचानक वहाँ एक चीता आ पहुँचा। चीते ने आकर उस साधू को पजो में दबोच लिया। हालाँकि वह साधू चीते के पजों मे दबोचा गया था,

---

१ विचलित करना=हटाना, हिलाना।

२ पचभूत=पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पाँच तत्त्व।

३. ध्वस्त=नष्ट।

४ वास्तविक=असली।

५ खड्ग=तलवार।

फिर भी वह वही रट निर्भय स्वर में लगा रहा था—'शिवोऽहम्', 'शिवोऽहम्', 'शिवोऽहम् ।'

चीते ने साधू के हाथ-पैर नोच दिये। फिर भी वही आवाज़ निकल रही थी, ध्वनि[1] तनिक भी मन्द[2] न हुई थी। आप इस घटना का क्या अर्थ लेते है? 'मै परमात्मा हूँ', 'मैं परमात्मा हूँ' इस उक्ति का आप क्या अभिप्राय समझते है? क्या आप इसे 'नास्तिकता' कह सकते है? नहीं, यह कथन[3] नास्तिकता[4] से कोसों दूर है। यह वेदान्तानुभूति है। प्रेम के शिखर[5] पर पहुँचने के उपरान्त प्रेमी अपने प्रिय से अभेद का अनुभव करने लगता है। क्या माँ अपने बच्चे को अपने मास का मास, अपने रक्त[6] का रक्त, अपनी आस्थियों की अस्थियाँ नही अनुभव करती ? क्या माँ बच्चे का अपना ही अपर 'अहम्' नही अनुभव करती? क्या वह बच्चे को अपनी ही दूसरी आत्मा नही मानती? क्या माँ तथा बच्चे के स्वार्थ में अभेद नही होता?

उस परमेश्वर को आलिगन में लेकर, उसे स्वीकार करके, उससे अभिन्न होकर, उससे इस कोटि तक एक हो जाओ कि अलगाव का लेशमात्र भी शेष न रहे।

'हे ईश्वर! तुम्हारी इच्छापूर्ण हो' की अपेक्षा इस आनन्द मे मन परिपूर्ण होना चाहिए कि 'मेरी इच्छा पूर्ण हो रही है।'

---

१. ध्वनि=शब्द, आवाज।
२. मन्द=धीमी।
३. कथन=उक्ति, कहना।
४. नास्तिकता=ईश्वर, आत्मा को न मानना।
५. शिखर=चोटी।
६. रक्त=खून।

राम जिन दिनो की चर्चा कर रहा है, उन दिनो—प्राचीन भारत में हिन्दू लोग मिट्टी के दीपकों का प्रयोग किया करते थे। तब जब एक मनुष्य के घर में दीपक प्रज्वलित हो जाते थे, तब आस-पास के लोग उसके घर से दीपक जला लाते थे। एक दिन सायकाल एक कुमारी, जो श्रीकृष्ण के प्रेम मे पूर्णतया[१] आसक्त[२] थी, अपने दीपक को जलाने के वहाने से श्रीकृष्ण के पिता के घर गई। जिस तरह दीपक के प्रकाश को लखकर[३] पतगा उसकी ओर बलात् आकर्षित[४] हो जाता है, उसी तरह श्रीकृष्ण के प्रेम मे मतवाली होकर उनका मुखडा देखने को लालायित होकर वह वहाँ गई थी। अतएव वह और किसी के घर में न जाकर श्रीकृष्ण के ही घर गई थी। वस्तुत· वह तो श्रीकृष्ण के दर्शन करने गई थी, दीपक जलाने का तो उसने अपनी माँ से वहाना ही किया था। उसे अपने दीप की वाती प्रज्वलित दीपक की बाती से लगानी थी, परन्तु उसके नयन दीपक की ओर नही थे, वे तो श्रीकृष्ण के मुखमण्डल पर टिके हुए थे। वह श्रीकृष्ण के मुग्धकारी[५] मुखमण्डल की ओर इतने गाढ अनुराग से एकटक देख रही थी कि उसे पता न चला कि जलते दीपक मे उसके दीपक की बाती जल रही थी, अथवा उसकी उँगलियाँ जल रही थी। दीपक की ज्वाला (लाट) उसकी उँगलियाँ जलाती रही, परन्तु उसे कुछ पता भी न चला। काल व्यतीत[६] होता गया। किन्तु वह अपने घर वापिस न आई। तव उसकी माँ बेचैन

---

१. पूर्णतया = पूरी तरह।
२. आसक्त = अनुरक्त।
३. लखकर = देखकर।
४. आकर्षित = खिंचाव।
५. मुग्धकारी = मोह लेने वाली।
६. व्यतीत होना = वीतना।

हो गयी। वह प्रतीक्षा करती-करती ऊब गई। वह पडोसिन के घर गई। वहाँ उसने देखा कि उसकी पुत्री की उँगलियाँ जल रही थी। उसने यह भी देखा कि बेटी को कुछ भी सुध-बुध नही थी। कुमारी की उँगलियाँ झुलस गई थी। माता ने ठण्डी आह ली। उसके श्वास[1] की गति रुक गई। वह रोने-चिल्लाने लगी—"री मेरी प्यारी पुत्री ! तू यह क्या कर रही है ? बता तो सही, तू यह कर क्या रही है ?'

माँ की आवाज़ सुनकर कुमारी होश में आई। संसार से बेखबर होकर वह समाधि की विशुद्ध[2] चैतन्य[3] अवस्था मे सर्वथा[4] जागृत[5] थी। माँ के शोर ने उसकी समाधि भंग करके उसे क्षुद्र[6] भाव में वापिस ला पटका।

इस प्रकार के दिव्य प्रेम की अवस्था में, पूर्ण प्रेम की इस परि-णति मे प्रेमी-प्रेमिका में अद्वैत हो जाता है—उनमे कुछ भी भिन्नता नही रह जाती। यही भावना ओतप्रोत होती है—'मैं वह हूँ', 'मैं तू हूँ।'

'मैं तू हूँ'—यह तृतीय अवस्था है। तथा इसके उपरान्त वह स्थिति आती है, जिसमे इन शब्दो का भी प्रयोग नही हो सकता।

उपरलिखित[7] कथाएँ तृतीय कोटि के प्रेम के उदाहरण हैं। आगे एक कथा दी गई है, जो धार्मिक उन्नति की द्वितीय स्थिति—'मैं तेरा हूँ'—का दृष्टान्त है।

---

१. श्वास=साँस।
२. विशुद्ध=बिल्कुल शुद्ध।
३. चैतन्य अवस्था=होश की हालत।
४. सर्वथा=पूरी तरह।
५. जागृत=जागी हुई।
६ क्षुद्र=तुच्छ।
७. उपरलिखित=ऊपर लिखी।

लालसा[1] की प्रेरणा से तुम कोई भी पाप-कर्म करने लोग—तो वही उस द्रष्टा—परमेश्वर की विद्यमानता[2] का अनुभव करो। जिस रमणी[3] के लिए तुम्हारे मन में उद्दाम[4] इच्छा हो, उसकी हड्डियो और मास मे, उसकी स्रष्टा[5] को प्रत्यक्ष देखो, साक्षी द्रष्टा के अपरोक्ष दर्शन करो। इस प्रकार की अनुभूति से अनुप्राणित होओ कि उस रमणी के लोचनो से मेरा परमेश्वर मुझे देख रहा है। मेरा स्वामी—मेरा परमात्मा मुझे देख रहा है। इस प्रकार का आचरण करो कि जैसे तुम सर्वदा परमात्मा के सम्मुख हो, सर्वदा परमात्मा तुम्हारे रूबरू है। प्रिय प्रभु की दृष्टि हर समय तुम्हे देख रही है।"

सुनते है कि नेपल्स के एक विचित्रागार की छत पर एक सुन्दर देवदूत (Angel) की आकृति है। इस विचित्रागार[6] के आप चाहे किसी खण्ड मे हो, भले ही आप किसी भी भाग को देख रहे हों, चाहे आप फर्श पर रहे या छत पर जाएँ—देवदूत के अमल, उज्ज्वल नयन सीधे आपके नयनो से मिले रहते है।

जो मनुष्य आध्यात्मिक[7] प्रगति[8] की द्वितीय स्थिति मे होते है, वे यदि सच्चे है, तो लगातार स्वामी परमेश्वर की दृष्टि के नीचे रहते हैं। उन्हे यही अनुभव होता रहता है कि वे चाहे जहाँ जाएँ, भले ही मकान की सबसे भीतरी कोठरी में चले जाएँ, अथवा जगल

---

१. लालसा=तीव्र इच्छा।
२ विद्यमानता=मौजूदगी।
३. रमणी=सुन्दरी नारी।
४. उद्दाम=प्रबल।
५. स्रष्टा=बनाने वाला, पैदा करने वाला।
६ विचित्रागार=अजायबघर।
७. आध्यात्मिक=आत्मा सम्बन्धी।
८. प्रगति=उन्नति।

वह बालक एक ओर जंगल में जा पहुँचा। वहाँ जब वह फिर कबूतर की गर्दन मरोड़ने लगा, तो कबूतर की आँखों से उसकी आँखें चार हुई। कबूतर ने उसे देख लिया था। स्वयं[1] द्रष्टा[2] कबूतर में ही था।

अनेक बार उस बालक ने कबूतर को मारने का प्रयत्न किया; परन्तु हर बार गुरु की शर्त ध्यान मे आ जाती थी, वह शर्त पूरी नही कर सकता था, अत. आज्ञा पालन में सफल नही हो पाता था।

वह बालक खिन्न होकर गुरु के पास चला आया। उसने जिन्दा कबूतर गुरु के सामने रख दिया। रोकर कहने लगा—"गुरुदेव! मैं इस शर्त को पूरी नही कर सकता। तथापि[3] आप कृपया मुझे ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश दीजिए। यह परीक्षा मेरे लिए अत्यन्त कठोर है। मैं इस परीक्षा में सफल नही हो सकता। कृपा कीजिए, करुणा[4] कीजिए, दया कीजिए—मुझको ब्रह्मज्ञान[5] प्रदान[6] कीजिए। मुझे उसकी तीव्र पिपासा है। उसके बिना मुझे असह्य[7] वेदना[8] होती है।"

गुरु ने बालक को गोदी में उठकर उसको गले से लगा लिया, उसका मस्तक चूमा और स्नेह से कहा—"प्रिय! तात! जिस कबूतर को तुम मारने वाले थे, उसकी आँखो में जैसे तुमने द्रष्टा को देखा है, उसी प्रकार तुम्हें जहाँ भी जाने का प्रसंग आए, जहाँ भी किसी

१. स्वयं=खुद।
२. द्रष्टा=देखने वाला।
३. तथापि=तो भी।
४. करुणा=दया।
५. ब्रह्मज्ञान=ईश्वर का ज्ञान।
६. प्रदान करना=देना।
७. असह्य=जो सहा न जाए।
८. वेदना=पीड़ा।

आटा तोलता गया और उन गरीबो को देता गया—आटा देते-देते वह जोर-जोर से गिनती करता जाता था—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ. आदि। भारतीय भाषा मे तेरह शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके दो अर्थ है—तेरह=दस और तीन, तथा तेरा=मै तेरा हूँ।

बारह मन आटा तोल देने के अनन्तर जब तेरहवे मन की बारी आई, तो 'तेरा—तेरा' का शब्द ऊँचे स्वर से कह रहा था। अकस्मात्[१] उसमे पावन[२] सस्कार[३] उदित[४] हुए कि उसने वस्तुतः[५] अपने शरीर तथा अपना सब कुछ परमेश्वर को समर्पित कर दिया। वह संसार की सारी बातो का विस्मरण करके—देहाध्यास से—व्यक्तित्त्व को अभिमान से परे हो गया। वास्तव मे वह आत्म स्वरूप मे लय हो गया। इस परम आनन्द की अवस्था मे वह निरन्तर—तेरा, तेरा, तेरा, तेरा, तेरा बोलता रहा। समस्त ससार का विस्मरण कि ये, वह बस तेरा—तेरा—तेरा—तेरा—तेरा—तेरा ही रटने लगा। एक मन के बाद दूसरा मन आटे का वह निरन्तर तोल-तोलकर देता रहा। इस परम आनन्द की दशा मे, आत्मसाक्षात्कार की अवस्थिति[६] मे, तुरीयावस्था[७] मे लीन होकर वह अचेत हो गया।

इस तरह हमें यह दिखाई पड़ता है कि जो मानव[८] धर्म की उन्नति

---

१ अकस्मात्=अचानक।
२ पावन=पवित्र।
३ सस्कार=विचारो का प्रभाव।
४. उदित हुआ=जागा।
५ वस्तुत=असल मे।
६ अवस्थिति=हालत।
७. तुरीयावस्था=चौथी अवस्था।
८ मानव=मनुष्य।

की सर्वथा[1] एकान्त गुफा में चले जाएँ, वे सर्वदा ईश्वर की आँखों के सम्मुख रहते है।

वह सतत हमें देखता रहता है। हम उसी के प्रकाश से प्रकाशमान होते रहते हैं। उसकी दया से ही हमारा पोषण होता रहता है।

जिस समय हम आत्मविश्वास[2] की प्रथम स्थिति मे होते है—'मै उसका हूँ', 'मै परमात्मा का हूँ'—तो उससे हमारी धार्मिक उन्नति की आरम्भिक अवस्था प्रकट होती है। धार्मिक उन्नति की पहली अवस्था की अनुभूति प्राप्त करना भी मनुष्यों के लिए कितना मुश्किल है! वस्तुतः[3] यदि कोई सच्चा मानव है, वास्तव में एकाग्र मन वाला है, असली भक्त है, यदि वह अपनी श्रद्धा के अनुरूप आचरण करता है—'मै उसका हूँ'—इस भावना को अपने लहू के संग वह नस-नाडियों मे सचारित कर लेता है, अपने रुधिर[4] की बूँद-बूँद मे इसी भावना की अनुभूति प्राप्त करता है, तो इस संसार में वह देवदूत बन सकता है।

भारत का एक अत्यन्त पूजनीय महान् पुरुष अपनी नवयुवावस्था[5] मे ऐसी जगह काम पर लगा हुआ था, जहाँ प्रतिदिन[6] खैरात बाँटना, लोगो को खाना, रुपया-पैसा बाँटना ही उसका कार्य था।

एक दिन कुछ निर्धन व्यक्ति उसके पास आए। उस नवयुवक के स्वामी ने आदेश[7] दिया था कि इन्हे तेरह मन आटा दे दो। वह

---

१. सर्वथा=हर तरह।
२. आत्मविश्वास=अपने पर भरोसा।
३. वस्तुत=असल मे।
४. रुधिर=लहू।
५. नवयुवावस्था=नई जवानी की उम्र।
६. प्रतिदिन=हर रोज।
७. आदेश=आज्ञा।

खनिज,[1] उद्भिज्ज,[2] पशु तथा मानव। मानव मे पशु की अपेक्षा अधिक उद्योग-शक्ति, अधिक गति तथा ऊँचे दर्जे की कार्य शक्ति होती है।

पशु केवल चलना-फिरना, भागना, पर्वतो पर चढना आदि क्रियाएँ कर सकते है; परन्तु मानव इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार की क्रियाएँ करने की सामर्थ्य रखता है। मानव मे अधिक ऊँचे दर्जे की उद्योग शक्ति तथा गति प्रकट होती है। वह दूरवीक्षण यन्त्रो तक, ग्रह-नक्षत्रो तक पहुँचने की सामर्थ्य रखता है। मानव अपनी शक्ति के बल पर पशुओ पर शासन कर सकता है। वह वाष्प तथा विद्युत् शक्ति के द्वारा देश-काल की सीमा दूर कर सकता है। उसे इतनी अधिक शक्ति प्राप्त है कि जिसका पशुओ को ज्ञान तक नही। वह विश्व के किसी भी स्थान पर फौरन सन्देश प्रेषित कर सकता है। वायु मे उड सकता है।

विश्व मे इस प्रकार की है मानव की शक्ति, यह है मानव का उद्योग, यह है उसकी कार्य शक्ति। शक्ति को व्यक्त करने मे मनुष्य की अपेक्षा पशु कम है।

इस तरह हमे दिखाई देता है कि जीवन की कोटि मे पशु मानव की अपेक्षा अत्यधिक नीचे है।

उद्भिज्ज कोटि की तुलना पशु-कोटि से करते हुए हम देखते है कि पेड-साग-सब्जियाँ आदि भी परिवर्धित होते है। उनमें गति तो है, परन्तु है वह एकमुखी ही। वे एक ही जगह पर बढ सकते है। एक जगह से दूसरी जगह जाने की सामर्थ्य उनमे नही है। एक ही जगह जमे रहते है। उनकी टहनियाँ यद्यपि सभी दिशाओ को जाती है, जड़े

---

१. खनिज=खान से निकलने वाले।

२. उद्भिज्ज=जमीन फोड कर उगने वाले—पेड-बेल-पौधे।

की शुरू की हालत में है, कभी-कभी वे भी बहुत ऊँचे चढ जाते हैं। यदि वे उतने ही साधु तथा सच्चे हों, जितने कि उनके वचन होते है। यदि वे सत्यवादी[1], सत्य चरित्र[2], निश्छल[3] हैं, यदि वे परमात्मा से किये वचनो को भग नहीं करते, प्रतिज्ञाओ को नहीं तोड़ते—तो वे परम आनन्द की स्थिति तक पहुँच जाते हैं। एक बार भी जब वे मन्दिर या गिरजे मे कह देते है—'मैं तेरा हूँ'—तो उन्हे इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति[4] होती है, उन्हे इसका अपरोक्ष[5] साक्षात्कार[6] होता है। वे इसे जीवन में उतारते है—अमल मे लाते हं। इसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते ही उन्हे दिव्य आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। वास्तविक धर्म यही है।

संसार के भिन्न-भिन्न मत, पन्थ इन्हीं तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त किये जा सकते है—

'मै उसका हूँ।'
'मै तेरा हूँ।'
'मै तू ही हूँ।'

विश्वमानवता : विकास[7] की सर्वोच्च[8] अवस्था

विश्व-जीवन चार कोटियों[9] में विभक्त किया जा सकता है—

---

१. सत्यवादी=सच बोलने वाला।
२. सत्य चरित्र=सच्चे चाल-चलन वाला।
३ निश्छल=कपट मे रहित।
४ प्रत्यक्ष अनुभूति=स्पष्ट अनुभव, इन्द्रियों से जानना।
५. अपरोक्ष=प्रत्यक्ष।
६. साक्षात्कार=प्रत्यक्ष देखना।
७. विकास=उन्नति।
८. सर्वोच्च=सबसे ऊँची।
९. कोटि=दर्जे।

उद्भिज्ज ही है ? क्या मानव के रूप में ऐसे लोग नहीं है जो मानो पशु ही है ? और क्या मानवों में इस प्रकार के भी कुछ व्यक्ति है, जो मानो देवता ही है ?

खनिज बदलते, बढते, बिखरते है—ये क्रियाएँ उनमे भी दिखाई देती है। वे घन[1] होते है, परिवर्धित[2] होते है। सागर[3] की तुलना मे हमें अचला[4] प्रतीत होने वाली यह धरती भी—उभरती, दबती, परिवर्तित[5] होती तथा तरगो की भाँति उच्चावच होती रहती है। इससे स्पष्ट[6] होता है कि खनिजो में एक तरह की गति तो अवश्य है, किन्तु वह मन्द[7] तथा क्षुद्र[8] है।

अब प्रश्न है कि क्या इस प्रकार के मानव है, जिनकी गति खनिजो की गति के समान है ? खनिजो की गति को बच्चों के लट्टू की गति से तुलना दी जा सकती है। लट्टू घूमता है, बारम्बार चक्र लगाता है, जिस समय वह अत्यन्त वेग से घूमता है, उस समय वह अचल प्रतीत होता है। इस गति को आत्म-केन्द्रित गति कहा जाता है। खनिज-कोटि की गति लट्टू की गति के सदृश है। जिन मानवों के चक्र का केन्द्र एक बिन्दुमात्र है, जिनकी गति आत्म-केन्द्रित है, उनका जीवन खनिज पदार्थो के समान है। उनकी सारी क्रिया, सारी शक्ति, सारा उद्योग अपने शरीर के बिन्दु पर केन्द्रित होता है। इन्द्रियों की

---

१. घन=ठोस।
२. परिवर्धित होना=बढना।
३. सागर=समुद्र।
४ अचला=स्थिर।
५. परिवर्तित होना=वदलना।
६. स्पष्ट=साफ।
७ मन्द=धीमी।
८ क्षुद्र=तुच्छ।

भी काफी गहराई तक पृथ्वी मे घुस जाती है, फिर भी पशु-कोटि मे जितनी क्रियाशीलता[1] दिखलाई देती है, उतनी वनस्पति यानि उद्भिज्ज[2] कोटि में नही ।

इस तरह हमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि पशु-कोटि की अपेक्षा वनस्पति या उद्भिज्ज-कोटि वहुत नीचे है ।

खनिज[3] पदार्थ जीवन-रहित है । यदि हम जीवन की वैसी व्याख्या[4] करे, जैसी जीवविज्ञान के पंडित करते है, तो उनमें किसी तरह की जीवन-वत्ता[5] नही है । तथापि यदि हम क्रियाशक्ति के विचार से जीवन-कोटियो का विमर्श करें, तो इतना हम कह सकते हैं कि खनिजो मे भी एक प्रकार की गति दिखाई पड़ती है । परिवर्तन उनके अन्दर भी दिखाई देता है ।

इस तरह, उनमें जीवन के लक्षण तो है, परन्तु वहुत कम । वे जीवन की अधम[6] श्रेणी मे है, उनका जीवन अति तुच्छ है । उनमे सक्रियता[7], गति, उद्योग-शक्ति क्षुद्र तथा वहुत सूक्ष्म है । इससे साफ पता चलता है जीवन, जिसकी परिभाषा—गति, उद्योग और क्रिया-शीलता है, मनुष्य मे सवसे ऊँची अवस्था में है ।

(२)

क्या मानव के रूप में इस प्रकार के व्यक्ति नहीं हैं, जो मानो केवल खनिज ही हैं ? क्या मानव के रूप में ऐसे लोग नहीं है, जो मानो

---

१. क्रियाशीलता=चेष्टा ।

२ उद्भिज्ज=वनस्पति ।

३. खनिज=खान से पैदा होने वाले लोहा-सोना-चांदी-तांबा आदि ।

४. व्याख्या=खुलासा अर्थ ।

५. जीवन-वत्ता=जीवन वाला होने की विशेषता ।

६. अधम=नीची ।

७. सक्रियता=क्रियाशीलता सचेष्टता ।

और फिर खाने लग जाता था। अग्निकाड देखने की हविस पूरी करने के लिए उसने अपनी राजधानी को जला डाला था।

इस प्रकार के मनुष्य वास्तव में मनुष्य-कोटि के नहीं होते। वे तो खनिज-कोटि के मनुष्य होते हैं।

वनस्पति-कोटि के मनुष्य का दायरा कुछ बडा होता है। यह खनिज-कोटि के मनुष्य से ऊँचा होता है। ये लोग दूसरो का स्वार्थ कुचलकर अपनी इन्द्रियो की लालसा की पूर्ति नही करते। ये मनुष्य अपनी पत्नी तथा बाल-बच्चो तक ही अपना दायरा रखते है। अपने शरीर के सिवाय इन्हे अपनी पत्नी तथा बाल-बच्चो का भी ख्याल रहता है। ये अपने क्षुद्र व्यक्तित्व तक ही सीमित न रहकर कुछ अन्य व्यक्तियो का भी हित-साधन[1] करते रहते है। नि स्वार्थ इन्हे भी कदापि नही कहा जा सकता। इनकी आत्मा का थोडा ही विकास[2] हुआ है। खनिज-मनुष्य की आत्मा अपने क्षुद्र[3] शरीर तक सीमित थी, उद्भिज्ज-मनुष्य की आत्मा परिवार तक सीमित है। ये लोग समस्त जगत् से पीठ फेरे केवल परिवार की ओर ही उन्मुख रहते है। उद्भिज्ज-कोटि के एक परिवार का इसी कोटि के एक परिवार से जब किसी बात पर विवाद[4] होता है, तो इस प्रकार के मनुष्य आँख मूँद कर अपने परिवार का समर्थन करते है, भले ही वह दोषी ही क्यो न हो।

तीसरी कोटि के मनुष्य पशु-मानव कहे जा सकते है। इनकी अभिन्नता तुच्छ शरीर या सकीर्ण[5] परिवार से ऊँची होती है। ये लोग

---

१. हित-साधन=भलाई करना।
२. विकास=उन्नति।
३. क्षुद्र=तुच्छ।
४. विवाद=बहस।
५. सकीर्ण=तंग।

इच्छाओं की पूर्ति के सिवाय उनके जीवन का और कोई भी लक्ष्य नही होता। भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए, सब प्रकार से उद्योग तथा परिश्रम करते हुए भी—उनका एक मात्र लक्ष्य होता है—नीचे दर्जे के सुखो की खोज करना या उन्हे प्राप्त करके भोगना।

उनके बच्चे भूखे मर रहे है, तो भी वे चिन्ता नही करते, पड़ोसी चाहे मरें या जिएँ, इन्हे कुछ चिन्ता नही होती।

वे शराब पियेंगे, मजा लूटेंगे, नीचे दर्जे की प्रकृति के आदेशों[1] का पालन ही वे करते रहेंगे। पत्नी रोती-चिल्लाती रहे वे परवाह नही करेंगे। अपनी विषय-वासना[2] की पूर्ति पर ही उनका ध्यान केन्द्रित[3] रहेगा। उनकी समग्र[4] चेष्टाएँ[5] शरीर के लिए हैं, उनकी समस्त[6] क्रियाशीलता का एक मात्र केन्द्र 'अपना शरीर' ही है।

रोम में नीरो, टाइबेरियस और सीजर नाम से कुछ बादशाह हुए हैं। ये अपने राज्य या प्रजा के हित की तृण बराबर भी चिन्ता नहीं करते थे। मित्रों या रिश्तेदारों की उन्हें कुछ भी फिक्र नहीं होती थी। उन्हें इसकी चिन्ता नहीं होती थी कि उनकी बेगमों, जनता या इष्ट-मित्रों के साथ क्या हो रहा है। इनमें से एक ऐसा था जो स्वादु व्यंजन तथा पदार्थ खाने में हर समय लगा रहता था और जब और खाना असम्भव हो जाता था, तो दवाइयाँ खाकर कुछ उगल देता था

---

१. आदेश=आज्ञा।
२. विषय-वासना=इन्द्रियों के सुख लूटने की चाह।
३. केन्द्रित=एकाग्र।
४. समग्र=सारी।
५. चेष्टाएँ=हरकतें।
६. समस्त=सारी।

तथा स्वार्थ से परे होते है। समस्त विशाल विश्व ही इनका घर होता है। इनके मन में मानव-मानव में भेद नहीं होता। विशाल विश्व को अपनी आत्मा में स्थान देने के कारण ये विश्वात्मा हो जाते हैं। सबकी आत्मा इनकी आत्मा हो जाती है।

इनका सुख आत्म सुख होता है। इनका आनन्द आत्मानन्द[१] होता है। इनका हित विश्वहित होता है। ये सूर्य की किरणो के कण के समान होते है। प्रकाशमय सूर्य के समान होते है। अणु-अणु के प्रेरक होते है। उषा की लालिमा के समान होते है। सध्याकालीन मन्द पवन के समान होते है। पत्र की मन्द ध्वनि के तुल्य होते है। समुद्र के भीषण विक्षोभ के समान होते है। प्रेमी की बलशाली विनती के समान होते है। नवयुवती की कोमल कातर वाणी के समान होते है। रणबाँकुरे वीर के समान होते है। वे मातृ हृदय के भय के समान, गुलाब के फूल के समान, कवि-कोकिल[२] के समान, उनके गीत के समान, चकमक पत्थर के समान, चिगारी के समान, दीप-शिखा के समान, पतंग के समान, मादकता के समान होते है। ऐसे विश्वमानवतावादी मानव-विकास की सर्वोच्च कोटि को पहुँचे हुए होते है। वे मानवता के दुर्लभ रत्न होते है।

व्यष्टि[३] में समष्टि[४]

सभी लोग सामान्यत[५] धन की इच्छा करते है। वे धन की इच्छा

---

१. आत्मानन्द=आत्मा का आनन्द।

२. कोकिल=कोयल।

३. व्यष्टि=व्यक्ति।

४. समष्टि=समूह, समाज।

५. सामान्यत =साधारण तौर पर।

अपनी जाति, वर्ग, सम्प्रदाय या प्रदेश से अभिन्नता स्थापित कर लेते है। ये लोग वड़े अच्छे, उपयोगी तथा क्रियाशील होते है। इनके कार्यो का लाभ वहुत-से परिवारो तथा अनगिनत व्यक्तियों तक विस्तृत होता है। ये केवल अपने तुच्छ शरीर या सीमित परिवार की ही भलाई नही करते; वल्कि अपने वर्ग, सम्प्रदाय[1] या राज्य की भलाई करते है। किन्तु ये भी एक सीमा तक ही जाते हैं। ये भी स्वार्थ-भावना वाले हैं। ये दूसरे वर्गों, सम्प्रदायो, जातियों या राज्यो का अहित करके भी अपने वर्ग, सम्प्रदाय जाति या प्रदेश (प्रान्त) का भला करते है। दगे-फिसाद, लडाई-झगड़े ऐसे ही लोगों की देन होते है।

चौथी कोटि के मनुष्य देश-भक्त मनुष्य कहलाते है। इनका मार्ग विशाल होता है। ये लोग समस्त राष्ट्र का लाभ चाहते और करते है। ये धन्य है। परन्तु जव इन व्यक्तियों में स्वार्थ-भावना आ जाती है, जव इनकी देशभक्ति दूसरों के प्रति निर्दयता से पूर्ण हो जाती है, इनमें एक प्रकार का पागलपन आ जाता है। इसी प्रकार के व्यक्ति[2] युद्ध करा देते है—एक राष्ट्र[3] से दूसरे राष्ट्र का संग्राम कराकर ये हजारों-लाखो मनुष्यों की प्राणहानि का कारण वनते हैं।

पांचवों कोटि[4] में वे मानव आते हैं, जिन्हें देव-मानव कहा जाता है। इनका समस्त[5] विश्व से अद्वैत[6] होता है। ये मुक्त पुरुष होते हैं। ये सव प्रकार के कष्ट, चिन्ता, भय, रोग, शोक, शारीरिक[7] इच्छाओं

---

१. सम्प्रदाय=मजहब।
२. व्यक्ति—शख्स।
३. राष्ट्र=देश।
४. कोटि=दर्जा।
५. समस्त=सारा।
६. अद्वैत=अभेद।
७. शारीरिक=शरीर-सम्बन्धी।

पर सहस्रो बीज प्राप्त होते है। इन सहस्रो बीजो को उगा दीजिए, तब इनसे उस तरह के लाखों बीज प्राप्त होते है। इन लाखो बीजो को बोइए। तब उसी तरह से करोडो बीज मिलते है। इस चमत्कार[१] से क्या बात स्पष्ट होती है ? मूल बीज—वह प्रथम बीज—जिससे हमने आरम्भ किया था, वह अब कहाँ है ?

प्रथम बीज जमीन मे मिट गया। वह मर गया। वह अब कही दिखाई नही पडता। परन्तु उसी मूल बीज द्वारा आज हमें उसी प्रकार के करोडो-अरबो बीज मिले है। उस प्रथम बीज—मूल बीज मे, जिससे हमने आरम्भ किया था कितनी अनन्त[३] शक्ति थी ? कैसी अनन्त सामर्थ्य[४] और योग्यता सुप्तावस्था[५] मे विद्यमान[६] थी।

प्रश्न यह है कि यह एक बीज-पोस्त अथवा सर्षप (सरसों) का बीज है। यह कहने से आपका तात्पर्य क्या है ? क्या आपका ख्याल है कि बीज शब्द का अभिप्राय सिर्फ उसका आकार, परिणाम (नाप-तोल), तथा गन्ध मात्र है ? क्या बीज रूप से अर्थ वस्तुतः रूपो का केवल बाहरी केन्द्र मात्र है ?

नही, कदापि नही। हम इस प्रकार का एक कृत्रिम[७] बीज निर्मित कर सकते है, जिसका न सिर्फ तोल, वर्ण या गन्ध ही असली बीज के समान हो, अपितु स्वाद भी वैसा ही हो।

---

१. चमत्कार=करिश्मा।
२ स्पष्ट=साफ।
३ अनन्त=जिसका अन्त नही।
४. सामर्थ्य=शक्ति।
५. सुप्तावस्था=नीद की हालत।
६ विद्यमान=मौजूद।
७. कृत्रिम=बनावटी।

क्यों करते है ? वे आनन्द के लिए धन की कामना[1] करते है, अन्य किसी लक्ष्य के लिए नही—परन्तु धन से आनन्द नही मिलता।

अव राम आपको वह वस्तु वताता है जिससे आनन्द मिलता है। सुकरात ने कहा है—ज्ञान ही धर्म अथवा शक्ति है। अन्त में यही भाव मानव-जाति पर शासन[2] करेगा। ज्ञान ही मानव जाति पर राज्य करता है। ज्ञान ही कार्य रूप में परिणत होता है। लोग वना-वनाया, पका-पकाया काम चाहते है; परन्तु इस प्रकार का कार्य कभी स्थायी नहीं होता। राम आपको इस प्रकार का ज्ञान प्रदान कर रहा है, जो आपको कर्म की अनन्त शक्ति में परिवर्तित कर देगा। इस ज्ञान को लोकप्रिय वनाना कठिन है। इस कठिन समस्या को सरल वनाने का प्रयत्न राम करेगा।

इस समस्त[3] विश्व की छोटी से छोटी वस्तु आपके ध्यान में आ सकती है—लघु से लघु जो वस्तु इस विश्व मे दृष्टिगोचर[4] होती है, राम उसी से आरम्भ करेगा। एक पोस्त का वीज अथवा सरसो का वीज अपने सम्मुख—अपनी हथेली पर रखिए। यह क्या है ? जिसे आप देख, सूँघ, तोल या छू रहे है—क्या यही वीज है ? क्या यह लघु सी वस्तु ही वीज है ? या वीज कोई अन्य ही वस्तु है ?

इस वीज को धरती मे वो दीजिए। अल्प काल मे ही वीज अकुरित हो जाता है। उसके कुल्ले फूट पड़ते है।

वह पौधा वन जाता है। वाद में उसी मूल वीज से हमें समय

---

१. कामना=इच्छा।

२. शासन=हुकूमत, राज्य।

३. समस्त=सव।

४. दृष्टिगोचर होना=दिखाई देना।

रूप—वास्तविक बीज नही होता। अनन्तता की मौत कैसे हो सकती है ? उसका तो कभी भी विनाश नही होता।

आज हम वह बीज बोते हैं जो मान लो कि मूल बीज की सहसस्त्रवी[1] सन्तति है, इस बीज को हम उठाते है, फिर इसे जमीन में बो देते है। आपको दिखाई देगा कि इस बीज मे भी बढने तथा विकसित[2] होने की वही ताकत है, जो प्रारम्भिक[3] बीज मे थी।

इस प्रकार हमे पता चलता है कि बीज शब्द का असली अर्थ है —आन्तरिक[4] अनन्तता। वह प्रारम्भिक बीज मे भी वही है तथा उसकी सहस्रवी सन्तान मे भी वही है। यह अनन्तता उस प्रथम बीज की पन्द्रहवी सन्तति में भी उसी के सदृश[5] रहेगी।

इससे हमें विदित[6] होता है कि आन्तरिक अनन्तता, या वह शक्ति अथवा सामर्थ्य[7] अव्यय[8] है, निर्विकार है, अक्षय[9] है। हमें यह भी विदित होता है कि असली बीज अनन्त सामर्थ्य कभी विनष्ट नहीं होती—वह अविनश्वर है।

प्रारम्भिक बीज का रूप नष्ट हो गया, किन्तु उसकी सामर्थ्य नही मिटी। वह शक्ति हजारवी सन्तति मे भी अपरिवर्तित ही रही।

---

१ सहस्रवी=हजारवी।
२ विकसित होना=खिलना।
३ प्रारम्भिक=शुरू का।
४ आन्तरिक=भीतरी।
५ सदृश=समान।
६ विदित=मालूम।
७. सामर्थ्य=ताकत।
८ अव्यय=जो खर्च नही होती।
९. अक्षय=जो नष्ट नही होती।

किन्तु यह कृत्रिम[1] वीज वस्तुत:[2] वीज नही है। यह वास्तविक[3] वीज नही है, वह केवल वीज के समान है; पर असली वीज नही है। यह वच्चों के खेल का खिलौना हो सकता है, न कि असली वीज।

इसी तरह हम देखते है कि वीज शब्द का एक वाहरी (वाच्य[4]) अर्थ है। तथा दूसरा उसका असली (लक्ष्य[5]) अर्थ है। 'वीज' का वाहरी अर्थ है—रूप, नाप-तोल, गन्ध, स्वाद आदि गुण जिन्हें हम अपनी इन्द्रियो की सहायता से जान सकते है। परन्तु वीज का वास्तविक तात्पर्य है—अनन्त शक्ति। वह अनन्त सम्भाव्यता जो वीज के अन्दर निहित है। इस प्रकार यही हम व्यष्टि मे समष्टि अथवा सान्त में अनन्त के दर्शन प्राप्त करते है।

सान्त[6] रूप या आकार में जो अनन्त शक्ति अथवा अथाह सामर्थ्य निहित[7] है, तथा बीज शब्द का यथार्थ अर्थ है, वह बीज का आन्तरिक अनन्त है, न कि उसका वाहरी आकार।

अव वताइए कि क्या इस आकार के नष्ट होने के साथ-साथ वह अनन्त शक्ति नष्ट हो जाती है? नही! वीज का वाहरी रूप तो मर जाता है, वह तो जमीन मे मिट जाता है; परन्तु उसका आन्तरिक

---

१. कृत्रिम=वनावटी।
२. वस्तुत.=असल मे।
३. वास्तविक=असली।
४. वाच्य=शब्दो द्वारा कहा गया।
५. लक्ष्य=वह अर्थ जो शब्दो द्वारा नही कहा गया; परन्तु शब्द उसकी ओर इशारा करते है।
६. सान्त=अन्त वाला।
७. निहित=छिपी।

नियम से होता है। हम भी इस क्रिया को कर सकते है कि एक कलल को लीजिए। किसी तीक्ष्ण अस्त्र से इसे बराबर दो खण्डो मे काटिये। यदि आप किसी मनुष्य को काटकर उसके दो टुकड़े कर दे, तो वह मर जाएगा; परन्तु कलल के दो टुकड़े कर दीजिए। वह मरेगा नही। दो खण्ड सजीव रहते हैं। एक से दो हो गए। कैसी विचित्र लीला है! आपने उसके दो टुकड़े किये। एक के दो हो गए—दोनों एक समान। अब इन दोनो कललो को काट डालिये। एक-एक के दो-दो—बराबर-बराबर खण्ड[1] कर दीजिए। अब आपने चार सजीव[2] कलल प्राप्त किये जो शक्ति मे एक समान है। इन चारो के भी एक समान दो-दो टुकडे कर डालिये। अब आप को आठ सजीव कलल मिल गए। इसी तरह जहाँ तक आपकी मर्जी हो, काटते जाइए और इन की संख्या बढाते जाइए। कितनी विचित्र लीला है।

आपके सम्मुख एक जीव का शरीर (रूप) है। यहाँ जीव शब्द का बाहरी (वाच्य) अर्थ प्रयोग मे लाया जा रहा है। इस बाह्य[3] अर्थ से केवल शरीर, रूप, नाप-तोल, रग तथा आकार है। बाहरी दृष्टि से जीव यही है। परन्तु असली जीव—उसकी भीतरी सामर्थ्य[4] है—उसका आन्तरिक[5] जीवन है। बाहरी जीव (शरीर) को मार दीजिए, उसका रूप-रग आकार मिटा दीजिए, परन्तु आप असली जीव—आत्मा को मार नही सकते। वह सार है, वह मरणधर्मा[6] नही है।

---

१ खण्ड=टुकडे।

२ सजीव=जानदार।

३. बाह्य=बाहरी।

४ सामर्थ्य=ताकत।

५ आन्तरिक=भीतरी।

६ मरणधर्मा=मरने के स्वभाव वाला।

* बीज की आन्तरिक वास्तविक अनन्तता बीज-शरीर की मृत्यु के साथ नही मिट जाती। राम कहना चाहता है कि मानो बीज की यह आत्मा, बीज की असली अनन्तता अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है— अतीत, वर्तमान और भविष्यत् मे ज्यों की त्यो विद्यमान रहती है।

आज हम जिस बीज को लेते है, उसमें भी बढ़ने और विकसित होने की वही अनन्त सामर्थ्य मौजूद है जो प्रारम्भिक[१] बीज में थी। यह अपरिवर्तनीय[२] है। यह तीनों कालो मे एक-सी रहती है। आज हम जिस चीज को लेते है, उसमे भी वृद्धि[३] तथा विकास की वही अनन्त शक्ति विद्यमान है, जो प्रारम्भिक बीज में थी। उस अनन्त शक्ति मे न तो वृद्धि होती है और न ह्रास[४]।

बीज का वास्तविक[५] तात्पर्य[६]—बीज की आत्मा—बीज की अनन्तता न कम होती है, न अधिक। वह अनन्त है। बीज के रूप या शरीर के नष्ट होने के साथ वह नष्ट नही होती। वह अविनश्वर[७] है। वह निर्विकार (अपरिवर्तनशील) है। उसकी वृद्धि या ह्रास नही होता।

क्या आपको विदित है कि छोटे-छोटे जन्तु—कलल कैसे परिवर्तित होते हैं? प्राकृतिक वैज्ञानिको की भाषा मे लघु जन्तु की बढोत्तरी दो समान टुकडे होने से होती है। यह द्विविभाजन[८] प्रकृति के

---

१. प्रारम्भिक=शुरू का (पहला)।
२. अपरिवर्तनीय=जो न बदले।
३. वृद्धि=बढ़ोत्तरी।
४. ह्रास=क्षय, नाश।
५. वास्तविक=असली।
६. तात्पर्य=मतलब।
७. अविनश्वर=नाश न होने वाला।
८. द्विविभाजन=दो हिस्सो मे बाँटना।

दर्पण में अपने ही कद का एक बालक देखा। वह उसके समीप चला गया। जिस समय वह आइने वाले बच्चे की ओर घिसटता हुआ जा रहा था, उस समय आइने वाला बालक भी उसकी ओर घिसटता आ रहा था। वह बालक अत्यन्त हर्षित[1] हुआ। क्या देखता है कि आइनेवाला बालक उसकी तरफ स्नेह दिखा रहा है। बालक ने देखा कि वह बालक भी उतना ही स्नेह प्रकट कर रहा है, जितना मैं कर कर रहा हूँ। उसने शीशे वाले बच्चे की नाक से नाक मिलाई। फिर दोनो के ओठ मिले। बालक ने अपना हाथ दर्पण पर रखा। दर्पण वाले बच्चे ने भी अपना हाथ उसके हाथ की ओर बढाया। इतने मे दर्पण गिर गया और उसके दो खण्ड[2] हो गए।

अब बालक ने देखा कि (दर्पण मे) एक की बजाय दो बालक है। दूसरे कक्ष[3] मे बालक की माता ने आवाज सुनी। वह दौडी आई। देखा कि उसका पति वहाँ नही है और बच्चे ने दर्पण तोड डाला है। वह नाराज़ होती डाँटती उसके पास गई, जैसे कि उसे पीटेगी। बच्चों को इन घुडकियो का अर्थ मालूम होता है। बच्चे को तनिक भी भय नही हुआ। उसने उन शब्दो को माँ का प्यार समझा। कहने लगा —"दो कर दिए, दो कर दिए मैने।"

मूलतः[4] एक बालक था। वह आइने वाले बच्चे से बाते कर रहा था। अब बालक ने दो शीशे कर दिये—तो दो बच्चे बना दिये। एक बालक वयस्क[5] होने से पूर्व ही दो बच्चो का पिता बन बैठा! कहने

---

१. हर्षित=प्रसन्न।
२. खण्ड=टुकडे।
३. कक्ष=कमरा।
४. मूलतः=मूल रूप में।
५ वयस्क=बड़ी उम्र का (जवान)।

वह परिवर्तित भी नही होता। देहों को काटते जाइए, नष्ट करते जाइए। परन्तु देह की मृत्यु से—असली सार का, आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर नाश से केवल उसका वाह्य रूप ही नष्ट होता है।

तुम वास्तविक[1] आत्मदेवता हो, तुम अमर हो। जीव का मूल शरीर लाखो गुना परिवर्धित[2] किया जा सकता है। उसे परिवर्धित करके करोड़ो गुना किया जा सकता है। यह अनन्त[3] सामर्थ्य मूल जीव के शरीर मे निहित[4] है।

प्रश्न यह है कि जब शरीर कई गुना बढ़ते है, जब वे विकसित होते है, जब वे बहुत सख्या में बढ़ते है, तो क्या वह आन्तरिक शक्ति भी वर्द्धित या विकसित होती है? अथवा क्या वह क्षीण होती है, घटती है, कम होती है? जीव के वाह्य—दृश्यमान—सान्त रूप—शरीर में वह न बढती है, न कम होती है। वह एक समान रहती है।

इस आश्चर्यजनक लीला की व्याख्या वेदान्त मे एक दृष्टान्त द्वारा की गई है—

एक नन्हा बालक था। उसे आइना कभी नहीं दिखलाया गया था। भारत मे छोटे बच्चों को आइना नही दिखलाया जाता। यह नन्हा बालक रेंगता हुआ एक दिन अपने पिता के कक्ष में जा पहुँचा। वहाँ फर्श पर एक आइना पडा था। उसका एक सिरा दीवार मे लगा हुआ था तथा दूसरा सिरा जमीन पर था। यह नन्हा बालक रेंगता हुआ उस आइने के पास चला गया। वहाँ उसने एक प्यारा-सा बच्चा देखा। बच्चे सदा बच्चों की तरफ आकर्पित होते हैं। इस बालक ने

---

१. वास्तविक=असली।
२. परिवर्धित करना=बढाना।
३. अनन्त=अन्तहीन।
४. निहित=छिपी।

जब जीव की देह के खण्ड[१] तथा उपखण्ड[२] तथा उपोपखण्ड[३] होते है, तो वह निर्विकार[४] अनन्त सामर्थ्य अपना प्रतिबिम्ब[५] दिखाती रहती है। वह सहस्रो-लाखो-करोड़ो देहो मे अपने को समान-भाव से व्यक्त करती है। वह यथापूर्व[६] बनी रहती है। वह केवल एक है, केवल एक है, न दो है, न बहुत है।

कितनी विचित्र लीला है ! कैसा अद्‌भुत आनन्द है ! इस देह को काट कर दो भाग कर दीजिए, इस शरीर को काट डालिए, परन्तु वह अनन्तता मरेगी नही। इस शरीर को जीवित जला दो—आत्मा मरेगी नही।

अनुभूति प्राप्त कीजिए कि आप आन्तरिक अनन्तता हैं, न कि शरीर। जिस पल कोई मानव अपनी आन्तरिकता[७] की अनुभूति प्राप्त कर लेता है, उसी पल उसे अपनी असलियत का भान हो जाता है। उसी पल वह स्वतन्त्र, उन्मुक्त और निर्भय हो जाता है। पीड़ा, व्यथा, कष्ट, संकट, वेदना से वह मुक्त हो जाता है। इसे जान लीजिए, अपने को पहचानिए। आप जो वास्तव में हैं, वही बन जाइए।

अहो ! कितनी विचित्र बात है ! वह एक ही अन्तहीन शक्ति अपने आपको सभी देहो मे प्रतिबिम्बित कर रही है। सभी दृश्यमान[८] व्यक्तियों मे—सम्पूर्ण वाह्य रूपो में—वही अनन्त है, वही 'मैं' हूँ।

---

१. खण्ड=टुकडा।

२. उपखण्ड=टुकडे का टुकडा।

३ उपोपखण्ड=टुकडे के टुकडे का टुकडा।

४ निर्विकार=जिसमे फर्क न पडे।

५. प्रतिबिम्ब=परछाही।

६. यथापूर्व=पहले की तरह।

७ आन्तरिकता=भीतरी असलियत।

८. दृश्यमान=दिखाई देने वाला।

लगा—"मैंने दो वनाए, मैंने दो वनाए।" माँ ने मुस्कराकर वालक को गोदी में उठा लिया तथा अपने कक्ष[1] में चली गई।

आइने के दोनों टुकडों को लेकर इनको दो-दो टुकड़े कीजिए, फिर चार-चार टुकड़े कीजिए, इस प्रकार इस में उतने ही वच्चे दिखाई देगे, जितने खण्ड[2] होगे। मनचाही संख्या में वच्चों की रचना की जा सकती है।

परन्तु क्या वह असली वच्चा, क्या वह आत्मदेव दर्पण के टूटने से वढता अथवा घटता है? नही, कदापि[3] नही। न वह कम होता है, न अधिक। वह ज्यो का त्यो रहता है। अनन्त किस तरह वढ सकता है? अनन्त घट कैसे सकता है?

इसी प्रकार जीव के दो टुकड़े होने की व्याख्या[4] वेदान्त मे इस प्रकार है कि जव आप कलल को दो समान टुकडो में काटते है, तव उसका शरीर—जो आइने के समान है, दो खण्डो में विभक्त हो जाता है। परन्तु उसकी सामर्थ्य, शक्ति अथवा वास्तविक[5] अनन्तता—उसके अन्दर का सच्चा परमेश्वर अपरिवर्तनशील है। वह न वढता है, न घटता है। जीव की देह के गुणन (सख्या वृद्धि) के साथ-साथ उसकी अनन्तता की—आत्मदेव की संख्या-वृद्धि[6] नही होती। वह जैसा था वैसा ही रहता है। वह वास्तविक वालक के समान है, तथा जन्तु की संख्या में वढ़े शरीर आइने के टुकड़ों के समान है।

---

१. कक्ष=कमरा।
२. खण्ड=टुकड़े।
३ कदापि=कभी भी।
४. व्याख्या=खुलासा अर्थ।
५. वास्तविक=असली।
६. संख्या-वृद्धि=गिनती वढना।

सम्बन्ध नही है। हालाँकि वही सभी काँचों में प्रतिबिम्बित[1] होता है। भिन्नता देहो में है—देह तथा चित्त काँचो के समान है। एक शरीर उन्नतोदर[2] है, दूसरा नतोदर,[3] एक प्रिज्मैटिक है, शरीर भिन्न-भिन्न है, परन्तु आप केवल देह नही हो, नश्वर[4] बाह्य सत्ता आप नही हो। आप अनन्त, सतत, निर्विकार, निर्विकल्प परमेश्वर हो। वही आप हो 'तत्त्वमसि'—

भारत मे शीशमहलो में सारी दीवारें और छते आइनो से जडी होती है। इनका स्वामी जब शीशमहल मे आता है, तो वह अपने को सब तरफ—सर्वत्र देखता है।

इस प्रकार के एक शीशमहल मे एक बार एक बुलडौग आ गया। वह जिस तरफ देखता, उसी तरफ से उसे कुत्तो के समूह अपनी तरफ आते हुए दिखाई देते थे। कुत्ता कुत्ते को देखकर खुश नही होता। स्वभाव से ही वह द्वेषी होता है। बुलडौग ने दाईं तरफ से कुत्तो का समूह आता हुआ देखा, तो वह बाईं तरफ मुड गया। यह क्या! इधर से भी कुत्तो की एक पलटन आती दिखी, मानो वे उसके टुकडे करने के लिए आ रही हो। वह तीसरी तरफ मुडा। उधर से भी उन कुत्तों का दल हमला करने आता दिखाई दिया। वह फिर चौथी दीवार की तरफ घूमा। उधर से भी कुत्तो का झुंड आता हुआ दिखाई पडा। उसने छत की तरफ देखा। उधर से भी सहस्रो[5] कुत्ते उसे टुकड़े-टुकडे करके खाने के लिए आते प्रतीत हुए। बुलडौग बहुत भयभीत[6] हुआ।

---

१ प्रतिबिम्ब—परछाईं मे दिखाई देता।

२ उन्नतोदर—ऊपर को उभरा।

३ नतोदर—अन्दर को दबा।

४ नश्वर—नाशवान्।

५ सहस्रो—हज़ारो।

६. भयभीत—डरा।

वही उपदेशक[1] है, वही महान् पुरुष है, वही अभागा है, वही इस देह[2] में और उस देह में, इस जगह और उस जगह है।

मै अनन्त एक हूँ, मै यह शरीर नही हूँ। इस अनुभूति[3] से आप स्वतन्त्र—उन्मुक्त हो जाएँगे। यह मात्र कल्पना-प्रसूत[4] वार्तालाप[5] नही है। यह सत्यो का सत्य है—यही वास्तविकता है।

फर्ज कीजिए—विश्व मे हजारों कांच हैं। कोई काला, कोई श्वेत, कोई लाल, कोई पीला, कोई हरा है और कोई किसी और रग का है। कोई उन्नतोदर (Convex) है, कोई नतोदर (Concave)। कोई कांँच प्रिज्मैटिक है, जिससे छोटी वस्तु वड़ी दिखाई देती है। एक मानव उन कॉचो के नीचे खड़ा है। वह चारों तरफ नजर दौड़ाता है। तव वह एक स्थान पर अपने को लाल, दूसरे स्थान पर पीला, तीसरे स्थान पर काला देखता है। प्रिज्मैटिक कांच मे वह अपना आकार अजीव ढंग से विगड़ा हुआ देखता है। उन्नतोदर कांच मे वह अपना हास्यास्पद रूप देखता है। इस प्रकार वह अपने इन नाना रूपों तथा आकृतियो को देखता है; परन्तु इन सभी वाहरी रूपो—आकारों में—वही एक अखण्डित, निर्विकाल, सार्वकालिक, सार्वभौम, अपरिवर्तनीय अस्तित्व के दर्शन करता है। इसे जानकर भेदभाव से मुक्त हो जाओ। इसे जानकर खेद और दुःख को दूर कर दो। इन विकृत[6] आकारो[7]—नाना प्रकार के वाह्य[8] रूपो का उस आत्मा से कुछ

---

१ उपदेशक=उपदेश देने वाला।
२ देह=शरीर।
३. अनुभूति=महसूस।
४. कल्पना-प्रसूत=ख्यालों से पैदा हुआ।
५. वार्तालाप=बातचीत।
६. विकृत=बिगड़े-तने।
७. आकार=शक्लें।
८. बाह्य=बाहरी।

मरने पर वे अपने पीछे चौगुनी सन्तान छोड़ जाते है। वह सन्तान जब मरती है तो अपने पीछे बडी भारी गिनती मे अपनी औलाद छोड जाती है। नर और मादा के एक जोडे से बीसियों, सैकडो, सहस्रो,[1] लाखो उसी तरह के जोड़े हो जाते है।

वेदान्त का मत है कि यह गुणन वास्तविक मनुष्य मे किसी सख्या-वृद्धि का परिचायक[2] नही है। आपके अन्दर जो वास्तविक मानव है, वह अनन्त रूप है। यदि सब मानव मर जाएँ, एक नर और मादा (Adom and Eve) बच रहें, तो उनकी अनन्त शक्ति पुनः मानव-सृष्टि की वृद्धि कर देगी। यही अनन्त सामर्थ्य तुम हो। तुम्ही अतीत मे थे, वर्तमान मे हो, और भविष्य मे होओगे।

मनुष्य-मनुष्य एक है। आप किसी से भी पूछ देखिए—"आप कौन है ?" वह कहेगा—"मै मनुष्य हूँ।"

राम आपसे यह कामना करता है कि आप अपने ऊपर दया कीजिए, अनुकम्पा कीजिए। मनुष्य बन जाइए। सब कुछ छोडकर मनुष्य बन जाइए।

सभी शरीर ओस की बूँदो के तुल्य है। वास्तव मे जो मनुष्य (आत्मा) है। वह भास्कर के समान है। प्रत्येक ओस-कण मे उसी भास्कर का प्रतिबिम्ब प्रतिविम्बित होता है।

आप सब एक है। सभी मनुष्य एक है, वस्तुतः एक है। अपने क्षुद्र देहाभिमान से ऊपर उठते ही आपकी समस्त विश्व के मानव-मात्र से एकता हो जाती है आपको ज्ञान हो जाता है—

'पिण्डे सो ब्रह्माण्डे[3]।'

---

१. सहस्रो=हजारो।

२ परिचायक=पता देने वाला।

३. 'पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'=जो आत्मा इस एक शरीर मे है, वही सारे ब्रह्माण्ड (Universe) मे मौजूद है।

वह उछला। सब कुत्ते उछले। वह भौंका—सभी कुत्ते भौंकने लगे। उसकी ध्वनि[1] की प्रतिध्वनि[2] सब तरफ से आने लगी। काफी देर उछल-कूद मचाने, इधर-उधर दौड़ने के बाद बुलडौग बेदम होकर गिर पड़ा और मर गया।

वेदान्त यह ज्ञान देता है कि यह विश्व शीशमहल के सदृश[3] है। ये सभी देह शीशों के समान हैं। आपकी आत्मा का सभी शरीरों में उसी तरह प्रतिबिम्ब[4] पड़ता है, जैसे शीशमहल के दर्पणों में बुलडौग का पड़ता था। मूढ़जन[5] कुत्तों के समान इस जगत् रूपी शीशमहल में आकर भयभीत होते हैं। कहा करते है—"वह आदमी हमे खा डालेगा, वह मनुष्य हमें चीर फाड देगा, अमुक व्यक्ति हमारे टुकड़े-टुकडे कर देगा।" और इस प्रकार के विचारो के कारण ही मनुष्य के मन मे ईर्ष्या तथा भय का जन्म होता है। ईर्ष्या तथा भय का कारण अज्ञान ही है। इसका उपाय आत्मज्ञान है। यदि आप इस शीश महल मे, शीश महल के स्वामी[6] बनकर आएँ, यदि आप प्रत्येक दर्पणरूपी शरीर मे आत्मरूप का भान[7] करें—तो न आपको ईर्ष्या होगी और न भय।

जब कोई मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है, तो उसके एक, दो अथवा अधिक पुत्र—कभी-कभी दर्जनों पुत्र उसकी जगह ले लेते हैं फिर उनके

---

१. ध्वनि=आवाज।
२. प्रतिध्वनि=गूँज।
३. सदृश=समान।
४. प्रतिबिम्ब=अक्स।
५. मूढ़जन=अज्ञानी लोग।
६. स्वामी=मालिक।
७. भान=प्रतीति, अनुभव।

अधिकारी[1] तो निःसन्देह बनाओ, किन्तु उसकी प्राप्ति की इच्छा न करो (Deserve only and need not desire)।'

क्योंकि वेदान्त पुकार-पुकार कर कह रहा है कि जिन वस्तुओं का आपने अपने को अधिकारी बनाया है, अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् वे वस्तुएँ आपके पास बिना किसी प्रकार की इच्छा के किसी न किसी के द्वारा अवश्य चली आएँगी। अधिकारी बनने या होने से कोई और अभिप्राय[2] नही है, वरन् इस प्रबन्ध का स्पष्ट[3] तात्पर्य[4] और उद्देश्य[5] यह है कि जिस प्रकार मनुष्य छोटे-छोटे पदो से उन्नति पाता हुआ एक उच्च[6] पद पर पहुँच कर राजा (शासक) का पद पा लेता है, तो उस समय वह अपने राज्य की समस्त[7] सम्पत्ति, महल और धन-धरती को पाने का अधिकारी हो जाता है। अब वह इन वस्तुओ के पाने की इच्छा प्रकट करे या न करे, उसके सिंहासनासीन[8] होने पर वस्तुएँ उसकी सेवा करने को अपने आप उसके पास चली आती है, वरन् उस समय उसका इच्छा करना अपने आपको छोटा बनाना है और अपने को धब्बा लगाना है। यह एक कहानी है कि एक महात्मा इस बात के अधिकारी हो गए थे कि उनके निकट सांसारिक पदार्थ आ कर उनकी नित्यप्रति सेवा

---

१. अधिकारी=हकदार।
२. अभिप्राय=मतलब।
३. स्पष्ट=साफ।
४ तात्पर्य=अर्थ।
५. उद्देश्य=मकसद।
६. उच्च=ऊँचा।
७. समस्त=सारी।
८. सिंहासनासीन=गद्दी पर बैठा।

समस्त ससार से आपकी एकता हो जाती है। कितना ऊँचा विचार है। कैसी महान् भावना है! आप सबसे एक हो जाते है, सम्पूर्ण जगत् से आपकी अभिन्नता हो जाती है।

मानव का सुधार

आजकल ससार मे परोपकार का बडा कोलाहल[१] सुनाई पडता है। यह शब्द हर एक काम मे सुनाई देते ही मन मे सहानुभूति[२] का उत्साह पैदा करता है तथा सुनने वालो के चित्त में सुधार करने का विचार पैदा कर देता है।

परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि परोपकार के वास्तविक[३] अर्थ से तो लोग जानकारी नही प्राप्त करते, केवल हा-हा-हू-हू की लेक्चर-बाज़ी मे लग जाते हैं इसीलिए परोपकार के यथार्थ अर्थ न समझने और उस पर आचरण (अमल) न करने वाले सुधारक[४] महाशय से न तो ससार का पूरा-पूरा उद्धार होता है, और न उसे स्वयं कुछ लाभ प्राप्त होता है। अतएव औरो का सुधार करने के पूर्व सुधार के इच्छुक को सुधार के अर्थ और साधनो[५] की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। अग्रेजो के यहाँ आजकल यह उक्ति रिवाज पकड़ती जाती है कि 'पहले अपने को किसी चीज के अधिकारी बनाओ, फिर उसके प्राप्त करने की इच्छा करो' (First deserve and then desire)।' परन्तु वेदान्त का इस विषय से सम्बन्ध नही। वेदान्त में तो यह सिद्धान्त अनादि काल से चला आता है कि 'अपने को किसी वस्तु के

---

१. कोलाहल=शोर।
२. सहानुभूति=हमदर्दी।
३. वास्तविक=असली।
४. सुधारक=सुधार करने वाले।
५. साधन=उपाय, तरकीब।

जाओगे। केवल असली साम्राज्य पाने की आवश्यकता है। ससार के पदार्थ आदि तो अपने,आप आपकी सेवा करने को तत्पर हो जाएँगे। आपको उस समय इच्छा करने की भी आवश्यकता न रहेगी। उठो! उठो!! उठो!!!

अपने स्वरूप मे डेरे लगाओ। और विराट् स्वरूप के सिहासन पर आरूढ हो, फिर आपके केवल एक सकेत से भी सारे ससार के काम पूरे होते चले जायँगे।

परोपकार का उपाय केवल 'हा-हा-हू-हू' नही वरन् सर्वोत्तम[1] परोपकार अपनी आत्मा मे लीन होना ही है। जैसे विज्ञान के मतानुसार[2] वायु हल्की होकर जब ऊपर को उठती है, और अपना प्रथम स्थान छोड देती है, तो इधर-उधर की चारो ओर की भारी और ठडी हवा हल्की हवा की खाली जगह घेर लेती है। अर्थात् चारो ओर की हवा पतली हवा के हल्का होकर उड जाने पर एक-एक श्रेणी अपने आप उन्नति करती जाती है। इसी प्रकार एक महात्मा के ब्रह्मनिष्ठ होने अर्थात् अपने असली स्वरूप मे लीन हो जाने पर उपरिवर्णित[3] वायु की भाँति शेष चारो वर्णो के लोग बिना किसी प्रकार की इच्छा और प्रयत्न के महात्मा की खाली की हुई जगह को घेरने के लिए अपने-अपने दर्जो से एक-एक दर्जा अपने आप उन्नति कर जाते है। अतएव अपने आपको अपने स्वरूप मे लीन करना अर्थात् निज स्वरूप मे निमग्न होना ही परोपकार करना है। तात्पर्य यह है कि आपके मन का अपने सूर्य रूपी आत्मा की किरणो के द्वारा अहकार-रूपी बोझ से शून्य और हल्का होकर अपने स्वरूप

---

१. सर्वोत्तम=सबसे बढिया।

२ मतानुसार=विचार के अनुसार।

३. उपरिर्वाणत=ऊपर वर्णन की हुई।

करे, किन्तु एक अवसर पर एक व्यक्ति जब उनके लिए बताशों का थाल लाया, तो महात्मा जी ने बताशे लेने की इच्छा करके अपने मुखारविन्द[1] से यह उच्चारण किया कि दो बताशे हमको दे दो। इस पर थाल लाने वाले ने दो बताशे तो महात्माजी को दे दिए, किन्तु शेष बताशों को उन्हे लालची समझने के कारण वहाँ रखना उचित न समझकर वह व्यक्ति थाल लौटा ले गया। इस प्रकार महात्मा जी शेष बताशो से भी वंचित रहे, और इच्छा प्रकट करने के कारण थाल लाने वाले की दृष्टि मे भी कम उतरे। इसी तरह अधिकारी[2] होने पर भी अधिकार-योग्य वस्तु की इच्छा प्रकट करना अपने अधिकारों को खोना और अपनी इच्छा को बट्टा लगाना होता है।

श्रीमान्! यदि आप अपने आपको समस्त[3] वस्तुओं का मालिक और अधिकारी बनाना चाहते हैं, तो उठो, अपने स्वरूप में झण्डे गाड़ो। अपने असली स्वरूप में लीन हो जाओ। और अपने असली स्वरूप में मस्त होकर सारे संसार के ईश्वर और मालिक बन जाओ। आपका अपने स्वरूप में लीन होना ही आपको सारे संसार का सम्राट्[4] बना देगा। यह सम्राट्-पद केवल इस संसार का ही नही प्राप्त होगा वरन् आपका अपने स्वरूप मे निवास करना आपको समस्त लोक और परलोक का सम्राट् बना देगा। अपने इस वास्तविक साम्राज्य का सिंहासन सँभालने पर आप समस्त धरती और आकाश अर्थात् लोक और परलोक की वस्तुओ के स्वामी और अधिकारी हो

---

१. मुखारविन्द=मुखरूपीकमल।
२. अधिकारी=हकदार।
३. समस्त=सारी।
४. सम्राट्=बादशाह।

समस्त पानी मे फैल जाती है और समस्त जल में नमकीन स्वाद देने की शक्ति रखती है, या यो कहा जाए कि जितना ही नमक की डली अपने परिच्छिन्न स्थान, नाम और रूप को छोडती जाती है, और पानी मे समाती जाती है, उसमे उतना ही स्वाद फैलाने की शक्ति बढती जाती है, उसी प्रकार मन यद्यपि परिच्छिन्न शक्ति का खण्ड माना गया है, किन्तु जितना ही वह अपने परिच्छिन्न स्थान, नाम और रूप को छोडकर अपने स्वरूप के अनन्त[1] सागर[2] से अभिन्न होता है उतना ही उसकी अनन्त (अपरिच्छिन्न[3]) शक्तियाँ फैलती भी दिखाई देती है। अर्थात् उतना ही मन अपरिच्छिन्न शक्तियाँ प्रकट करने का बल भी उत्पन्न करता चला जाता है। इसी प्रकार से भगवन्! यदि आप अपनी अनन्त (अपरिच्छिन्न) शक्तियाँ प्रकट करना चाहते है, और उन अपरिच्छिन्न शक्तियो से ससार का उद्धार करना चाहते है, तो मन को कैवल्य-स्वरूप मे इस प्रकार लीन कर दो जैसे कि मजनूँ के प्रेम के सम्बन्ध मे एक कवि ने कहा है—

खूँ रगे-मजनूँ से निकला फ़स्द लैला की जो ली;
इश्क में तासीर है पर जज़्बे-कामिल चाहिए।

—अर्थात् मजनूँ लैला के साथ ऐसा अभेद हुआ कि लैला और मजनूँ में बिलकुल अन्तर न रहा। वरन् लैला की फस्द लेने पर भी खून मजनूँ की नस से निकला।

जितना ही आप अपने को परिच्छिन्न करते जाओगे, अर्थात् नमक की डली की भाँति परिमित[4] शरीर मे मन को घेरे रखोगे,

---

१. अनन्त=अथाह।
२, सागर=समुद्र।
३ अपरिच्छिन्न=जो औरो से अलग नही।
४. परिमित=सीमित, नपी-तुली।

में उड़ जाना, अर्थात् लीन हो जाना ही ससार के और पुरुषों को सुधारना है। नही तो सुधारक महाशय या सुधार के इच्छुक जितना ही अपने वास्तविक स्वरूप के नीचे रहेंगे, उतना ही शेष मनुष्य निचले दर्जो पर रहेंगे और परोपकार करने के अर्थ का मिथ्या वरन् उल्टा व्यवहार करते रहेंगे; क्योंकि अपने स्वरूप मे अवस्थान न करना ही दूसरों का परोपकार न करना है, वरन् अपने आपको नीचे गिराए रखना है। इसलिए ऐ सुधार के इच्छुको[1]! और ऐ ससार का उद्धार करने वालो! यदि संसार का उद्धार करना चाहते हो, तो उठो, अपने स्वरूप मे लीन हो जाओ, शेष सब लोग अपने आप उन्नति कर लेगे। या यों कहो कि शेष सब लोगो का बिना आपकी इच्छा और प्रयत्न के, अपने आप भला हो जाएगा और आप में भी, जब अपने स्वरूप मे निष्ठा होगी, तो सारे संसार को हिला देने की शक्ति आ जाएगी अर्थात् अनन्त स्वरूप से अभेद होने के कारण अनन्त शक्ति भी आपमे भर जाएगी।

इस प्रकार आपका केवल राजगद्दी सम्भालना ही सारे काम-धन्धे को ठीक कर देता है, क्योंकि बिना असली साम्राज्य के सिंहासन पर स्थित हुए साम्राज्य के काम पूरे नही होते, अतः अपने स्वरूप मे लीन होना परोपकार के लिए मुख्य उपाय समझना चाहिए, अपने अनन्त स्वरूप से मन को अभेद करने से ही अनन्त शक्तियाँ प्राप्त होगी। जैसे एक नमक की डली यदि खाली गिलास में डाली जाए, तो एक परिच्छिन्न स्थान घेरती है, और जब पानी से भरे हुए गिलास मे डाली जाए, तो पानी मे घुल जाने से (अर्थात् जल के साथ मिल जाने से) वह डली अपनी परिच्छिन्न[2] जगह छोड़कर गिलास के

---

१. इच्छुक=चाहने वाला।
२. परिच्छिन्न=विच्छिन्न, औरों से अलग।

ज्योति का प्रकाश वहाँ इतना प्रकट नहीं होता, जितना कि वनस्पति-जगत् में से होता है। इसलिए वनस्पति—जगत् की श्रेणी जड़-जगत् से ऊँची मानी गई है। और वनस्पति में भी जब वह चेतन-शक्ति अपने आपको प्रकट करना चाहती है, तो यद्यपि जड़ जगत् की अपेक्षा पर्दा वहाँ जरा कम स्थूल होता है, तो भी कुछ स्थूल होने के कारण वहाँ वह इतना प्रकट नहीं होती, जितना कि प्राणी जगत् में होती है। इसलिए प्राणियो की श्रेणी जड़ और वनस्पति से बढ़कर मानी गई है। फिर पशुओं में जब वह प्रकाश स्वरूप आत्मा अपना प्रकाश बाहर फैलना चाहता है, यद्यपि उनमें जड़[1] (अचेतन) और वनस्पति[2] की अपेक्षा पर्दा और भी कम स्थूल[3] होता है, तथापि स्थूल होने के कारण उनमे से ज्योतिर्मय[4] सूर्य का प्रकाश उतना भासमान[5] नहीं होता, जितना कि मनुष्य मे हो सकता है। अतः मनुष्य का दर्जा अन्य समस्त सृष्टि अर्थात् जड़, वनस्पति और प्राणि-सृष्टि से उत्तम माना गया है।

किन्तु विकासवाद केवल यहाँ तक ही अन्त नही करता, वरन् मनुष्यो में भी आगे बहुत-सी श्रेणियाँ है,'विशेषत. दो दर्जे मनुष्यो के बतलाए जाते है। इन दर्जो के आगे कोई और दर्जा विकासवाद ने न तो आज तक बनाया, न स्थिर किया है।

मनुष्य को दो बडी श्रेणियो मे विभक्त किया गया है—एक ज्ञानी की, दूसरी अज्ञानी की। ज्ञानी वह जिसका अन्तःकरण रूपी पर्दा अत्यन्त सूक्ष्म और स्वच्छ है। और अज्ञानी वह जिसका अन्त.करण

---

१ जड=निर्जीव (जैसे पत्थर आदि)।

२ वनस्पति=पेड-पौधे, वेले।

३ स्थूल=मोटा।

४ ज्योतिर्मय=प्रकाशमय।

५ भासमान=दिखाई देने वाला, प्रकाश वाला।

उतना ही आप अपने को असमर्थ और शक्ति-हीन बनाते जाओगे । अतः मन को शरीर के ख्याल से दूर हटाकर आनन्द घन रूपी समुद्र में लीन करना ही समस्त अनन्त शक्तियाँ प्राप्त कर लेना है । जब इसी प्रकार से व्यावहारिक रीति पर मनुष्य तन्मय हो जाता है, अर्थात् जिस समय वेदान्त-रूप हो जाता है, तो पूर्व सकल्प नमक की डली की तरह परिमित स्थान को छोडकर अपने अनन्त स्वरूप में समा जाते है । और इस प्रकार सबके साथ अभेद और प्रेममय होने पर समस्त[1] मनोकामनाएँ[2] बिना इच्छा और प्रयत्न के पूरी हो जाती है । अपने आत्मा में लीन होने के लिए सुधारक महाशय को पहली आवश्यकता हृदय-रूपी पर्दे को ज्ञान-रूपी तेल से तर करने और स्वच्छ[3] बनाने की है । जैसे कागज की तह यदि लैंप की लाट के आगे रखी जाए, तो लाट इतना प्रकाश नही करती, जितना तेल से भिगोई हुई कागज की तह कर सकती है । इसी तरह हृदय को ज्ञान-रूपी तेल से भिगोए बिना आत्म-रूपी ज्योति का प्रकाश बाहर भली-भाँति प्रकट नही हो सकता । अतः ज्योति को प्रकट करने के निमित्त हृदय-रूपी पर्दे को ज्ञान-रूपी तेल से तर करने और उससे उसको स्वच्छ बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है ।

विकासवाद[4] की दृष्टि से भी मनुष्य को समस्त सृष्टि पर श्रेष्ठता दी गई है । इसका अधिकांश कारण केवल यही है कि वह चेतन-शक्ति जो वेदान्त में ज्योति के नाम से पुकारी जाती है, जड़ जगत् में प्रकट होना चाहती है, किन्तु जड़-जगत् में पर्दा अत्यन्त मोटा होने से उस

---

१ समस्त=सारी ।

२. मनोकामनाएँ=मन की इच्छाएँ ।

३. स्वच्छ=निर्मल, साफ ।

४. विकासवाद=वह मत जिसमें यह माना जाता है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु का बराबर विकास होता रहता है ।

मनुष्यों के अन्त करणो को भी, जो चिमनी के ऊपर के ग्लोब के समान है, प्रकाशमान कर देगा।

इसलिए आपका काम केवल अपने अन्त·करण को ही अति पतली चिमनी के समान साफ और स्वच्छ बना देना है। जब अन्तःकरण खूब निर्मल हो जाएगा, तो उससे प्रकाश निकलकर अन्य अज्ञानी पुरुषो के मनो को भी प्रकाशित कर देगा।

इसलिए हे भगवन्! पहले अपने अन्त करण को पतली और निर्मल, स्वच्छ[1] चिमनी के समान बनाइए। इस प्रकार आपका अपना हृदय शुद्ध करना ही दूसरो का उपकार करना है।

जिस समय अन्तःकरण बिल्लौर के समान स्वच्छ[1] हो जाएगा, तो ज्ञान-रूपी प्रकाश आपके प्रयत्न और खोज के भीतर से प्रज्ज्वलित[2] होता हुआ औरों के हृदयों को प्रकाशित करेगा। तब विकासवाद के नियम के अनुकूल भी आपका दर्जा समस्त जातियो से उत्तम होगा। क्योंकि जब वह ज्योति मनुष्य के अन्त.करण से निकलती हुई अपना पूरा-पूरा तेज बाहर दिखला देती है, तो उस समय विकासवाद के तत्ववेत्ता[3] भी उस मनुष्य को समस्त अन्य मनुष्यो से विशेषता देते है। अर्थात् उसका दर्जा सारे ससार की सृष्टि से बढ कर मानते है। मगर हिन्दुओ के यहाँ तो वह अवतार ही समझा जाता है।

अतः यदि मनो मे संसार के उद्धार करने का आवेश उठता है, तो ऐ सहानुभूति करने वालो! पहले अपने आपका सुधार करो, और इस प्रकार से आपका अपने हृदय को शुद्ध करना अपनी आत्मा मे निष्ठा करना ही अपने आपका सुधार करना है।

---

१ स्वच्छ = साफ।

२ प्रज्ज्वलित होता = जलता।

३ तत्ववेत्ता = सच्चाई का सार जानने वाले।

४ सृष्टि = रचना, निर्माण।

रूपी पर्दा स्थूल और मलिन है—जैसे ग्लोबदार लैंप मे दो चिमनियाँ होती हैं, एक अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ और पतली होती है, कि जिसके भीतर से लैंप का प्रकाश निकल कर समस्त मनुष्यो की आँखें चौधिया देता है। दूसरी निर्मल और अल्प स्वच्छ होती है, मगर पहली की अपेक्षा थोडी मोटी और धुँधली होती है, जिसमे से लैंप का प्रकाश वाहर प्रकट तो होता है, मगर पहले की अपेक्षा वहुत ही हल्का होता है। इस तरह ज्ञानी का अन्तःकरण[1] उस अत्यन्त महीन, निर्मल और स्वच्छ चिमनी के समान होता है, जिसके भीतर से आत्मदेव की ज्योति ऐसे वेग से वाहर प्रकाशित होती है कि बीच में अन्तःकरण रूपी पर्दा देखने में ही नही आता, वरन् असली ज्योति ही आँखे मारती मालूम देती है; मगर अज्ञानी का अन्त.करण उस ग्लोव के समान होता है कि जिसके भीतर तो प्रकाश उसी प्रकार जोर का होता है, जैसा पहली चिमनी के भीतर था। मगर वाहर इस जोर से प्रकट नही होता, जैसे पहली चिमनी से फूट-फूट कर निकलता है। अर्थात् जिसमें से पहले की अपेक्षा प्रकाश हल्का और धुधँला-सा निकलता है और ज्योति रूपी लाट, धुएँ का पर्दा होने के कारण, आँखे मारती कम दिखाई देती है।

इस तरह से हे भगवन् ! उस सूर्यो के सूर्य के तेज को वाहर प्रकट करने के लिए, सिवाय अन्तःकरण को शुद्ध करने के और कोई साधन या उपाय नहीं है। अन्त करण जव शुद्ध हो जाएगा, तो फिर चाहे आत्म-ज्योति प्रकाश को वाहर प्रकट करने का प्रयत्न करें अथवा न करें, ज्योति विना आपके प्रयत्न के आपके भीतर से फूट-फूट कर वाहर निकलेगी। इस स्वच्छ अन्तःकरण में से प्रकाश निकलकर अन्य अज्ञानी

---

१. अन्त करण—हृदय।

अब प्रत्येक व्यक्ति जो विज्ञानविद्[1] नही है, यह सुनकर बड़ा चकित होगा और यो कहेगा कि जब हम नीला कमल कहते है, तो उससे स्पष्ट पाया जाता है कि कमल का रग नीला है। फिर किस प्रकार कहा जा सकता है कि रग केवल सूर्य का है? नीला रग कमल का न होने मे विज्ञान यह प्रमाण देता है कि रात को अँधेरे में हम कमल की पखड़ियाँ और आकार, गोलाई और वजन आदि वैसा ही पाते है, जैसे कि दिन मे प्रकाश के समय पाते थे, मगर नीला रग जो सवेरे प्रकाश मे कमल का देखते थे, अब अँधेरे मे कमल के साथ बिलकुल दिखाई नहीं देता। यदि कमल की पत्तियाँ, आकार और गोलाई आदि की तरह नीला रग भी कमल का अपना होता, तो कमल के शेष सब अगो के समान वह भी सदैव कमल के साथ ही बना रहता।

परन्तु अँधेरे मे शेष अग तो कमल के साथ बने रहते है और भान भी होते है, किन्तु केवल रग ही नही रहता और न दिखाई ही देता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि रग कमल का नही, वरन् उस प्रकाश का है, जिसमे या जिसके कारण नीला रग दिखाई देता था और लगातार नजर आता था। इसमे अब फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यद्यपि यह सिद्ध[2] हो गया कि रग कमल का न था, किन्तु यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि जो रग किसी वस्तु का प्रकाश मे देखा जाए, वह केवल प्रकाश का ही होता है? इस विषय मे सविस्तार[3] उत्तर तो प्रत्येक महाशय को नेबुलर थ्यूरी के पढने से मिल जाता है, किन्तु यहाँ केवल सक्षेपत:[4] वर्णन किया जा सकता

---

१ विज्ञानविद=विज्ञान (साइस जानने वाला)।

२ सिद्ध=साबित।

३ सविस्तार=विस्तार सहित, खुलासा।

४. सक्षेपत=थोडे शब्दो मे मुख्तसिर।

जब इस रीति से आपका सुधार हो जाएगा, तो यह अवश्य समझ लेना कि दूसरो का भी अपने आप सुधार हो जाएगा। वरन् सबको निश्चय करना चाहिए कि इस नियम के विरुद्ध सुधार कभी ससार में न हुआ है, न होगा। इस विषय में आपको अपना अनुभव गवाही देगा।

अन्तःकरण को शुद्ध करने का साधन

पहले वर्णन कर आए है कि सुधार के इच्छुक[1] या सुधारक महाशय के लिए शुद्ध अन्त.करण रखना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अन्तःकरण के स्वच्छ रखने का उपाय भी शास्त्र और तत्वज्ञान[2] के अनुसार बता देना आवश्यक समझकर स्पष्ट किया जाता है। इससे पहले कि अन्त.करण[3] को स्वच्छ[4] करने की रीति वर्णन की जाए, पहले प्रत्येक का ध्यान प्रकृति की ओर खींचा जाता है कि उसने सांसारिक पदार्थों को निर्मल और स्वच्छ या मलिन और स्थूल करने का कौन-सा ढग या नियम अगीकार[5] किया है, क्योकि जो रीति प्रकृति ने सांसारिक पदार्थों को स्वच्छ और निर्मल करने के लिए अगीकार की है, वही ढंग या नियम यदि मनुष्य स्वीकार करेंगे, तो निश्चय ही आशा की जा सकती है कि उनका अन्त.करण बहुत शीघ्र स्वच्छ और निर्मल हो जाएगा, यद्यपि मलिन तो वह पहले से ही है। विज्ञान के मत से सूर्य का प्रकाश सात रगो का समुदाय[6] होता है। और जो रंग ससार में मौजूद है, वे केवल सूर्य के ही है।

---

१. इच्छुक=चाहने वाला।
२. तत्वज्ञान=सच्चाई के सार का ज्ञान।
३. अन्त करण=हृदय।
४. स्वच्छ=साफ।
५. अगीकार=स्वीकार।
६. समुदाय=इकट्ठा, समूह।

अपने में शोषण कर लेती है। और सफेद रग उस समय होता है, जब वस्तुएँ प्रकाश के सातो रगो मे से एक को भी अपने मे शोषित नही करती, वरन् सातों के सातो रगो को प्रकाश के स्वामी सूर्य की ओर वापस लौटा देती है। या दूसरे शब्दो में यो कहे कि वापस लौटाती रहती है। अत:[१] ये दोनों रग कही बाहर से किसी और वस्तु के द्वारा उत्पन्न नही हुए, वरन् वस्तुओ का ये दोनो रंग प्रकट करना केवल सूर्य के सातों रगो को अपने में शोषित करने या अपने से बाहर निकालकर सूर्य की ओर वापस लौटाने के कारण से है। इसलिए इन दोनो रगो के प्रकट होने के कारण भी सूर्य का प्रकाश ही हुआ। किन्तु यहाँ पर कर्म और कर्त्ता या सूर्य और प्रकाश मे कुछ अन्तर[२] ही नही है। क्योक अपरिमित प्रकाश के स्रोत को विज्ञानविद्[३] सूर्य मानते है। अत: इन दोनो रगो का कर्त्ता अर्थात् इन दोनो का उत्पन्न करने वाला सूर्य ही है। अतएव ये दोनो रग भी सूर्य से है। अस्तु, यहाँ पर और लम्बे तर्क[४] की आवश्यकता नही है, क्योकि इतने लम्बे प्रमाण[५] से केवल तात्पर्य[६] यह था कि ससार की समस्त[७] वस्तुओ के काले और श्वेत[८] हो जाने का कारण स्पष्ट[९] किया जाए, और यह सिद्धान्त आपकी समझ में आ जाए कि ससार की समस्त

---

१. अत =इसलिए।
२ अन्तर=भिन्नता, फर्क।
३ विज्ञानविद्=विज्ञान के जानने वाले।
४ तर्क=दलीलबाजी।
५ प्रमाण=सबूत।
६. तात्पर्य=मतलब।
७. समस्त=सब।
८ श्वेत=सफेद।
९ स्पष्ट किया जाय=साफ समझाया जाय।

है। इस विषय में विज्ञान यों कहता है कि जो रंग नीला या पीला आदि वस्तुओं का दिखाई देता है, उसका कारण केवल यह है कि जो सात रंग (लाल, नारंगी, नीला, आसमानी, पीला, हरा और बनफ्शी) विज्ञान ने सूर्य के प्रकाश के वर्णन किये है, उनमें से छः रंग तो वस्तुएँ शोषण कर जाती है, और शेष एक रंग को सूर्य की ओर वापस लौटा देती है। जो रंग वस्तुएँ नही शोषण[1] करती; बल्कि सूर्य की ओर ही वापस लौटा देती है, वही रंग दिखाई देता है। यद्यपि दृष्टि में तो ऐसा आता है कि रंग वस्तु का है, किन्तु वास्तव में वह रंग केवल उसी सूर्य का होता है कि जिससे पहले निकल कर वह वस्तुओं में शोषित होने के लिए वस्तुओं की ओर आया था, और शोषित न किये जाने पर फिर अपने स्रोत—सूर्य की ओर ही गमन करता है। इस तरह से प्रत्येक रंग, जो वस्तुओं का दिखाई देता है, वास्तव मे सूर्य का ही होता है।

अब यहाँ एक और प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रकाश के सात रंगो में काला और सफेद नही गिने गए, इसलिए हम किस प्रकार से कह सकते है कि ये दो रंग सूर्य के प्रकाश के ही है? और यदि सूर्य के प्रकाश के नही हैं, तो ये दोनों रंग कहाँ से उत्पन्न हुए? इसके उत्तर मे विज्ञान का यह कहना है कि यदि आप इन रंगों का भी स्रोत[2] मालूम करना चाहे, तो पहले इन दोनो रंगो के प्रकट होने का कारण आपको जानना चाहिए। जब इनके प्रकट होने का कारण मालूम हो जाएगा, तो फिर इनके स्रोत का हाल भी अपने आप मालूम हो जाएगा। वस्तुओं का काला रंग उस समय होता है, जब वस्तुएँ प्रकाश के सातो रंगो का

---

१. शोषण करना=चूसना।
२. स्रोत=निकास (Source)।
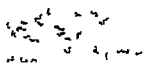
इसलिए भगवान् ! स्वच्छ या शुद्ध अन्तःकरण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि आप श्वेत वस्तुओ के समान मन को समस्त सासारिक पदार्थो का पीछा करने से हटा दे और मनमें उनका लेश-मात्र[1] भी प्रवेश न होने दे । जब इस प्रकार से आप आचरण करेंगे, तो फिर आपके रोम-रोम से यह आवाज प्रत्येक को सुनाई देगी कि त्याग ही अन्त.करण की शुद्धि का एक मात्र साधन है ।

किन्तु स्मरण रहे कि उक्त अमृत उसी समय प्राप्त होगा, जब आप मन को पदार्थो से रिक्त[2] कर देंगे । अर्थात् मन को त्याग सिखाएँगे क्योकि इस अमृत को पाने के लिए श्रुति[3] भगवती यह सिखलाती है—

'धीरा' प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।' (केनोपनिषद्)—अर्थात् धैर्यवान् पुरुष इस जगत् से मुँह मोड़कर अमृत हो जाते है ।

वैसे भगवन् ! यदि आप अमृत होना चाहते है तो मोड़ो मुँह जगत् के पदार्थो से, वापस लौटाओ मन को अपने मालिक सूर्य की ओर, देखो प्रत्येक पदार्थ मे अपने सूर्य-रूपी आत्मदेव को ही, जिससे पदार्थ-भाव गर्दभ-शृ गवत् उड जाए, जैसे नामदेव के मनसे उड़ गया था कि जो कुत्ते को रोटी ले जाते देखकर अपने हाथ मे साग लेकर यह कहने लगा—"रूखी न खाइए मेरे स्वामी जी ! अपना बॉट ले जाइए ।" और उसके पीछे हो लिया था । अर्थात् लोगो की दृष्टि[4] मे तो कुत्ता रोटी ले जा रहा था, मगर नामदेव के विचार में तो उसका स्वामी परमात्मा ही उनके हाथ से छीनकर ले जा रहा था ।

---

१ लेशमात्र भी=जरा भी ।
२. रिक्त=खाली ।
३. श्रुति=वेद
४. दृष्टि=नजर ।

वस्तुएँ केवल त्याग करने से अर्थात् सूर्य के प्रकाश के रगो को अपने में प्रविष्ट न करने से, या उनके त्याग करने से ही श्वेत होती है। अत· जिस प्रकार त्याग से अर्थात् प्रकाश के रंगों को अपने स्वामी की ओर वापस लौटा देने से समस्त वस्तुएँ श्वेत रंग की हो जाती हैं, वैसे ही प्राणियों के अन्तःकरण भी यदि यह शैली ग्रहण करें, अर्थात् भाँति-भाँति के सांसारिक पदार्थों को अपने में शोषित न करें, वरन् उनके स्वामी परमात्मा की ओर लौटा दें, तो वे भी श्वेत वस्तुओं की भाँति श्वेत, स्वच्छ और शुद्ध चित्त हो सकते हैं। और जव चित्त उस पतली और स्वच्छ चिमनी के समान, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, स्वच्छ और निर्मल हो जाएँगे, तो उनमे से आत्मा का प्रकाश फूट-फूटकर वाहर स्वतः निकलेगा, वरन् स्वयं आत्मरूपी ज्योति स्वच्छ पर्दे में से आँखे मारती हुई दिखाई देगी। विरुद्ध इसके जव समस्त सासारिक पदार्थों का प्रवेश अन्तःकरण में हो जाएगा, अर्थात् जव मन समस्त भाँति-भाँति के पदार्थों की कामना करके उनको अपने मे शोपित करेगा, तो वह काली वस्तुओं की भाँति मलिन और काला हो जाएगा। इसलिए यदि आप स्वच्छ-हृदय होना चाहते है, तो प्यारो! स्वच्छ वस्तुओं की तरह आप सव पदार्थों का त्याग स्वीकार कीजिए। संसार मे समस्त काली वस्तुएँ आपको यही उपदेश कर रही हैं कि यदि सासारिक पदार्थों को अन्तःकरण में शोपित करते जाओगे, तो उनकी भाँति आपका अन्तःकरण[1] काला हो जाएगा। और इस तुच्छ[2] स्वार्थपरता[3] के फंदे में फँसना ही आत्म-हनन[4] करना है।

---

१. अन्तःकरण=हृदय।
२. तुच्छ=क्षुद्र, नाचीज़।
३ स्वार्थपरता=ख़ुदगर्ज़ी।
४. आत्म-हनन=अपनी आत्मा को मारना।

को सुधार करने की पुकार-पुकार कर बतलाई गई है, और जिससे ससार का श्रेष्ठ उपकार हो सकता है, उसको आप हृदयंगम करो।

प्रेम द्वारा विश्व-आत्मा[1] की एकता

जीवनमुक्त[2] मानव समस्त[3] विश्व के बारे में, विश्व-आत्मा की एकता की चेतना मे रहता है। वह भेद-भावों से सम्बन्ध नहीं रखता।

अपने अनन्त[4] स्वरूप की अनुभूति[5] द्वारा वह सारे भेद-भावो पर विजय पाकर, सभी ग्रह-नक्षत्रो, भूमिभागो, सरिताओ[6] आदि सबको अपना ही अनुभव करने लगता है। प्रेम द्वारा वह सबको अपना बना कर वह सब तरह की लालसाओ पर विजय प्राप्त करता है।

सूर्य के प्रचण्ड[7] प्रकाश में जुगनू क्या प्रकाश डाल सकता है? जब मेरे लिए सभी सुन्दरता का साकार रूप है, मै आप सुन्दरता हूँ। तब मै किसके पीछे भागूं? विश्व की धन-सम्पदा की सूची मे ऐसी कौन-सी चीज है जो व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट[8] करे?

गरीब मजदूर की आत्मा के लिए खुराक दीजिए, सभी से प्रेम कीजिए। फिर वह शरीर के लिए बिना कुछ खाना माँगे भी आपका काम करेगा। आप श्रमजीवी से प्रेम कीजिए, वह आपका काम प्यार से करेगा। प्यार की प्रेरणा से किया गया परिश्रम क्या परिश्रम कहा

---

१ विश्व-आत्मा=ब्रह्म।
२ जीवन-मुक्त=जीते जी सुख-दुख के बन्धन से छूटने वाला।
३ समस्त=सारा।
४. अनन्त=अन्तहीन।
५. अनुभूति=प्रतीति, अनुभव।
६. सरिताओ=नदियो।
७. प्रचण्ड=बहुत तेज।
८. आकृष्ट करना=खीचना।

इसी प्रकार प्यारो ! मन को यदि पदार्थों से लौटाकर तुम अपने सूर्य रूपी आत्मदेव में लगाओगे, तो पदार्थ देखने के स्थान पर आपको वहाँ भी अपना आत्मदेव ही दिखाई देगा। वरन् पदार्थ भाव बिल्कुल ही उड जाएगा।

जगत् के चित्र-विचित्र[1] पदार्थों को मन में न शोपित करने का तात्पर्य[2] यही है कि उनसे मन का मुँह ऐसा मुड़ जाए कि तनिक भी पदार्थ-भाव-मन में न रहे, वरन् उसकी द्वैत-दृष्टि भी उड जाए, और परमात्मा ही परमात्मा दिखाई दे।

किन्तु ऐ सुधार के इच्छुको[3] ! ऐ संसार पर सहानुभूति प्रकट करने वालो ! यह स्मरण रहे कि पदार्थ-भाव मन से कभी न मिटेगा, जब तक मन को आत्मा मे लीन न करोगे। क्योंकि मन का केवल पदार्थों की ओर जाने से रोकना ही पदार्थ-भाव को दूर करने के लिए काफी न होगा, वरन् मन को पदार्थों से हटाकर अपने आत्मा में निष्ठा करना पदार्थ-भाव को दूर करेगा। ऐसे ही भगवान ! यदि आप पदार्थों का विचार अन्त:करण से उडाना चाहते हैं, तो उठो ! उठो ! मन को आत्मा में स्थित करो, क्योंकि आपके मन का आत्मा में स्थित होना ही हलका होकर ऊपर उड़ जाना है। ब्रह्मनिष्ठ[4] होने के बाद आपको सुधार करने की चिन्ता भी न करनी पड़ेगी, वरन् बिना प्रयत्न किये संसार का भला स्वाभाविक रूप से होता जाएगा। चाहे उस समय आप निर्जन वन में बैठो, चाहे संसार मे प्रकट रूप से उपदेश दो, स्वाभाविक ही ससार का कल्याण होगा। इसलिए प्यारो ! इसके पहले कि कोई और साधन सुधार का ग्रहण करो, यही रीति जो अपने आप

---

१. चित्र-विचित्र=अजीबो-गरीब।

२ तात्पर्य=अर्थ।

३. इच्छुक=चाहने वाला।

४. ब्रह्मनिष्ठ=परमात्मा में लीन।

हे सम्पन्न[1] भारतीयो ! तुम परमात्मा को नही ठग सकते । अपने को पाती या दास कह कर आप परमेश्वर का प्रेम नही प्राप्त कर सकते । हे दरिद्र हृदय वाले धनवानो ! आप ऊँचे-ऊँचे धवल मन्दिर और पत्थर की विष्णु-मूर्तियाँ बनाकर अपने हृदय की अशान्ति को दूर नही कर सकते । देश के दरिद्रनारायण की तथा मजदूरो की—इन सच्चे विष्णुओ की पूजा करो । हिन्दुस्तान के निर्धन विद्यार्थियों को कला-कौशल तथा उद्योग-धन्धे सीखने के लिए विदेशो मे प्रेषित करो ।

आप भी उस प्रेम के अवतार गौएँ चराने वाले के प्रेमपात्र हो सकते है, यदि आप उसे केवल पाषाण मूर्तियो मे ही बन्द न करके, उसके दर्शन सब प्रकार के मनुष्यो मे करे ।

भक्ति या प्रेम रोने-कराहने की, भिक्षा माँगने की, घृणा योग्य दशा नही, बल्कि वह पूर्ण एकता, उज्जवल माधुर्य[2], दैवी अभिन्नता की अवर्णनीय[3] अवस्था का नाम है । भक्ति या प्रेम है—सर्व मे सर्वस्व देखना । वह तो, जहाँ तक नजर जाए, निज को देखना तथा ऐसी अनुभूति[4] प्राप्त करना है कि सब कुछ सुन्दरता है तथा 'वह भी मै हूँ ।'

प्रेम का प्रदर्शन[5] करना, असत्य भाव रखना, बनावटी भावो के आवेग[6] मे बहना परमात्मा का अनादर करना है । आवश्यकता है—दिव्य ज्योति की प्राप्ति की ।

---

१ सम्पन्न=धन-सम्पत्ति वाला ।
२. माधुर्य=मिठास ।
३. अवर्णनीय=जिसका वर्णन न हो सके ।
४ अनुभूति=प्रतीति, अनुभव ।
५ प्रदर्शन=दिखावा ।
६ आवेश=जोश ।

जा सकता है ? कदापि नही। वह तो मनोविनोदार्थ की गई क्रीडा होता है।

कला क्या है ? जिसे छू दो, उसी में सुन्दरता व्यक्त हो जाए, यही कला है। धरती या स्वर्ग में वह कौन-सी चीज है, जो सुन्दरता को व्यक्त[1] करती, उस पर से परदा हटाती है ?—प्रेम के सिवा ऐसी अन्य कौन-सी चीज हो सकती है ?

इस तरह प्रेम की भावना जब हमारी मेहनत के ऊपर चमचमाती है, तो वह हमारे श्रम और उद्योग में सौन्दर्य प्रकट कर देती है। वह हममें उद्योग-प्रवीणता पैदा कर देती है। इन दिनो हिन्दुस्तान में उल्लेखनीय[2] कोई मौलिक[3] चित्रकला, कलात्मक कारीगरी अथवा उद्योग-प्रवीणता[4] क्यों नही दृष्टिगोचर होती ? इसका कारण यही है कि इस देश मे मजदूरों से स्नेह नही किया जाता। बेचारे मजदूर हमारे मन में सत्कार प्राप्त करने की अपेक्षा अपने झोंपड़ो से भी निकाल बाहर किये जाते है।

जिस जगह श्रम का अनादर किया जाता हो, वहाँ यही फल होता है—प्रगति[5] मे अवरोध[6], क्षय, विनाश। इस प्रकार की स्थिति में कला एक बोझ बन जाती है।

जहाँ श्रम से प्रेम किया जाए, वहाँ जीवन में प्रकाश प्रकट होता है। प्रेम शब्द बोलते ही प्रेमी लोगों के मन में दिव्य ज्योति प्रकट होती है।

---

१. व्यक्त=प्रकट।
२. उल्लेखनीय=कहने-लिखने योग्य।
३. मौलिक=(Original)।
४. प्रवीणता=कुशलता।
५. प्रगति=उन्नति।
६. अवरोध=रुकावट।

मोह पाले की न्याईं[1] आत्मा को सकुचित[2] करता तथा जमा डालता है।

मूसा के प्रथम नियम का अर्थ है—"प्रेम को छोडकर तुम्हारा कोई परमात्मा न होगा।" प्रेम का अवतार परमात्मा अपना पूरा एकमात्र अधिकार चाहता है। वह वासना तथा आसक्ति को अपने सिहासन पर नही बैठने दे सकता।

परमात्मा का सिर्फ एक हाथ नहीं है, सभी हाथ उसके हाथ है। सब नयन उसके नयन है। सब मन उसके मन है। किसी मनुष्य से बर्ताव करते हुए क्या आपने कभी इस बात की चिन्ता की है कि वह आपको उसी हाथ से चीज वापिस देता है, जिस हाथ से उसने ली थी? वह दूसरे हाथ का भी प्रयोग कर सकता है।

असल मे आपका लेन-देन परमात्मा से है। उन बाहरी रूपों से आपका लेन-देन नही, जो आपको शत्रु या मित्र प्रतीत होते है। परमात्मा आप कर्जा चुकाने मे कभी भूल नही करता। आपका छोटे-से-छोटा स्वार्थ-रहित कार्य भी परमात्मा को ऋणी बना देता है। यह सम्भव है कि लेते समय उसने जिस हाथ को प्रयुक्त किया था, देते हुए उसी को प्रयुक्त न करे, अपितु[3] किसी अन्य हाथ द्वारा आपका मूल ऋण सहित चुका दे।

हे चचल अविश्वासी मन! तू क्यो बेचैन होता है? अन्य कोई नही, केवल तेरी ही मधुर आत्मा समस्त ब्रह्माण्ड पर शासन कर रही है।

घने जंगलो, मनोहर भूमिभागों, सरिताओं, झीलों तथा हरित पर्वतों के दृश्यों से हमें क्यों उत्साह, प्रसन्नता तथा आनन्द की प्राप्ति

---

१. न्याई=तरह।

२. सकुचित=तग, सकीर्ण।

३. अपितु=बल्कि।

जहाँ सत्य नहीं, वहाँ प्रेम भी सम्भव नहीं। किसी मनुष्य को यदि कोई अधिकार है, तो बस सेवा करने का। जिस परमात्मा ने लघु[1] से लघु बूंद से विकसित करके हमें दैवी रूप—मनुष्य का स्वरूप दिया है, उस परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास किया जा सकता है।

पुष्पों को हम किस प्रकार विकसित कर सकते है? उनसे प्रेम करके। एक महिला ने अति सुन्दर पुष्प प्रतिकूल[2] जलवायु मे उगाये। उससे किसी ने पूछा—'तुमने ऐसा कैसे किया?' उसने उत्तर दिया —"मैं उनसे प्रेम करती हूँ और मुझे उपाय स्वय ही सूझते रहते है।" प्रेम की मनोहर ऊष्मा[3] सबसे उत्तम पोषक[4] होती है। प्रेम कला-कौशल और उद्योग-धन्धो में सौन्दर्य ला देता है।

प्रेम को आसक्ति से न मिलाएँ। दोनों पृथक्-पृथक् है। आपकी पत्नी तथा बाल-बच्चे आपके प्रेम की परिधि को सीमित करने की बजाय ऐसे केन्द्र बने, जिनसे समस्त विश्व के लिए प्रेम प्रस्फुटित होने लगे।

जोन पाल रिच कहता है—"मै अपने कुटुम्ब को अपने आप से अधिक प्रेम करता हूँ, स्वदेश से अधिक प्रेम करता हूँ।"

लवलैस ने लडाई पर जाते समय अपनी पत्नी लूटकास्टर से कैसे श्रेष्ठ शब्द कहे थे—"प्रिये! मैं तुमसे ज्यादा प्रेम नही कर सका; किन्तु क्या मैंने स्वदेश को कुछ कम प्रेम किया है?"

वास्तविक[5] प्रेम सूर्य के समान आत्मा को विस्तृत[6] बनाता है।

---

१. लघु=छोटा।
२. प्रतिकूल=विरुद्ध।
३. ऊष्मा=गर्माहट।
४. पोषक=पुष्ट करने वाली।
५. वास्तविक=असली।
६. विस्तृत=विशाल।

उस आताताय़ी[1] तैमूर लग ने, जिसने अपनी ईरान-विजय का जल्सा नब्बे हजार मानवों के सिरों की मीनार से मनाया था, हाफिज को उसके मशहूर गीत के कारण उसने अपने सामने बुलवाया। उसने कहा था—

'अगर आं तुर्के शीराजी' आदि—"यदि शीराज का वह तुर्क मेरा हृदय लूट ले, तो मै उस मधुर अत्याचारी के काले तिल पर समरकद तथा बोखारा शहर निछावर कर दूँगा।"

तैमूर लग ने गरजते हुए पूछा—"क्यो, क्या तू वही मनुष्य है, जिसने अपनी प्रियतमा के लिए मेरे दो बड़े से बड़े शहर दे देने का दुस्साहस[2] किया ?"

कवि ने निडरता से जवाब दिया—"जी हाँ, और इसी प्रकार की उदारताओ से मैने अपना सर्वस्व गँवा दिया।"

कवि ने सत्य की अभिव्यक्ति नही की, बात इस तरह कही जाती तो उचित होता—"प्रेम-देवता को सब कुछ भेंट दे देने से मुझे इतनी पर्याप्त[3] सम्पदा[4] प्राप्त हुई है, कि दोनो जहान मै बडे आनन्दपूर्वक लुटाने मे समर्थ हूँ। इसके विपरीत,[5] हे निर्दय[6] ! तूने जमा करने के लालच मे अपनी टाँग तक गँवा दी है। तू अपनी शालीनता[7] से वचित[8] हो चुका है, तथा फिर भी तेरे पास इतनी भी भूमि नही, जहाँ तुझे दफनाया जा सके।"

---

१. आताताय़ी=घोर अत्याचारी।
२. दुस्साहस=भयकर साहस।
३ पर्याप्त=काफी।
४ सम्पदा=धन-सम्पत्ति।
५. विपरीत=उल्टा।
६ निर्दय=दयाहीन।
७ शालीनता=सज्जनता, शराफत।
८. वचित=रहित।

होती है ? क्यों वे हमें अपनी ओर आकर्षित करते हैं ?—इसी कारण कि उनके द्वारा हमें सीमित—क्षुद्र व्यक्तित्व के वोझ से मुक्ति प्राप्त होती है। उनमें उन कल्पित दृष्टियों का अभाव होता है, जिनके भार से भीड़-भरे मार्गो में हम दव-से जाते है।

वही मनुष्य सुखी है, जो इस समस्त विश्व को नन्दन-कानन[1] में वदल देता है। जो स्त्री-पुरुषो की भीड़ मे उसी अहकार-हीन जीवन को साँस लेते देखता है और जिसके द्वारा वागों के गुलावो तथा केसर की क्यारियों का विकास होता है।

द्वेप तथा वदले की भावना को पालने से किसी का कोई भला नही हो सकता। भला होता है अपने कर्तव्य का पालन प्रेमपूर्वक करने से। प्रेम सव पर विजय प्राप्त करता है—यह बुद्धिहीनता अथवा धोखे से भरा कथन नही है। लूट-खसोट करके माल जमा करके आप स्वामी नही वन सकते। एक लघु कर्पूर-खण्ड[2] को भी इस तरह की आज्ञा देकर आप वश मे नही रख सकते—'हे कपूर ! ठहरो, तुम यही ठहर जाओ। तुम मेरे वश में हो।' परन्तु प्रेम के द्वारा आप समस्त विश्व को अपना और सर्वथा[3] अपना ही वना सकते है। प्रेम द्वारा ही आप न्यायपूर्ण स्वामित्व[4] उपलव्व[5] कर सकते है। प्रेम से भिन्न हर तरह का स्वामित्व—चोरी, डाका या दिव्य नियमों की हत्या है। भले ही मानव अपनी स्वार्थपूर्ण भावना से उसे न्याय-संगत सिद्ध करने का प्रयत्न करे।

---

१. नन्दन-कानन=स्वर्गीय वाग।

२. कपूर-खण्ड=शुष्क काफूर का टुकड़ा।

३. सर्वथा=हर तरह से।

४. स्वामित्व=मिल्कियत।

५. उपलव्व=प्राप्त।

प्रेम अथवा एकता की भावना जब दो मानवों के मध्य में सक्रिय[1] होती है, तो भिन्नता की माया तहस-नहस हो जाती है तब एक के भावनाएँ दूसरे की अपनी हो जाती है। एक के हृदय में जो हलचल मचती है, वह दूसरे के भी अन्त.करण में प्रकट होती है। तब दिव्य दृष्टि एक सिद्ध बात हो जाती है। हमें उसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है।

"इसमे कोई सन्देह नही कि मै ही इन सबमे व्यापक हूँ। जैसे एक ही धागे मे माला के मनके पिरोये हुए होते है।"

भिन्न-भिन्न वस्तुएँ—बडी-छोटी, अच्छी-बुरी, सुन्दर-असुन्दर, सभी उस प्रेमी के अजीब चित्रो के सदृश है। सभी एक ही प्यार के सूचक है, मनोहर वर्ण तथा सभी का एक ही अर्थ—मेरा ही अपना आप। श्रेष्ठ तथा बढिया चित्र, सभी परमप्रिय परमात्मा का रूप दिखाने वाले उसी के नाना रगो-ढगो के भिन्न-भिन्न वेश है। इस प्रकार चतुर्दिक्[2] सुन्दरता का समुद्र लहरा रहा है।

प्रेमी के लिए प्रियतमा के काले केश उतने ही मुग्धकारी होते है, जितना कि गोरा मुखड़ा ! अत. राम को रात्रि भी उतनी प्रिय है, जितना दिन।

निराश एवं विरही[3] की वाणी इस प्रकार होती है—"हे विद्युत् चमको, खूब चमको ! हे बादल गरजो, खूब गरजो ! हे झझावातो ! खूब शोर मचाओ ! तुम्हे धन्यवाद, बारम्बार धन्यवाद। सिर्फ एक दफा तुम उस कोमल हृदय को भयभीत[4] करके, क्षण भर के लिए मुझसे लिपटा दो !

---

१. सक्रिय=सचेष्ट।
२. चतुर्दिक=चारो दिशाओ मे।
३. विरही=वियोगी।
४. भयभीत करना=डराना।

जो मनुष्य जितना अधिक त्याग कर सकता है, वह उतना ही धर्म सम्पन्न होता है।

समस्त[1] महात्माओं, कवियों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, आविष्कारकों, निर्माताओं, तत्त्वज्ञानियों, स्वप्नद्रष्टाओं की स्फुरणा तथा प्रेरणा का मूल स्रोत प्रेम ही है, प्रेम ही है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ व्यक्तियों में वह औरों की अपेक्षा अधिक प्रकट हुआ है। श्रीकृष्ण, चैतन्य महाप्रभु, तुलसीदास, शेक्सपीयर, ईसामसीह, राम, कृष्ण में उतना ही दिव्य प्रकाश चमकता था, जितनी उनके हृदय में वियोग की आग सुलगती रहती थी।

हे सभ्यता के अधकचरे प्रचारको! हम तुम्हारे विज्ञानों तथा कलाओं का सत्कार करते है। परन्तु कृपा करके उन्हें अत्यधिक गौरव न प्रदान करो। प्रेम रूप परमात्मा ही वह सूर्य है जिसके सब तरफ विश्व के विज्ञानरूपी ग्रहो तथा उपग्रहो को परिभ्रमण करना चाहिए।

ज्योतिर्विद्या अन्तरिक्ष के नक्षत्रो का वर्णन करती है, शरीर-रचना-विज्ञान मानव शरीर की अस्थियों तथा वाह्य ढाँचे का निरूपण करता है, मनोविज्ञान केवल मन के भिन्न-भिन्न क्रिया-कलापों[2] का वर्णन करता है। परन्तु प्रेम तो मानव तथा प्रकृति मे मौजूद सत्य के तत्त्व[3] का वर्णन करता है। प्रेम एक ओर विज्ञान है, तो दूसरी ओर कला। आधुनिक[4] वैज्ञानिक आविष्कार[5] तो उस गौरवशाली सूर्य की प्रेम रूपी अग्नि अर्थात् एकता की भावना की केवल एक चिनगारी ही हैं।

---

१. समस्त=सभी।
२. क्रिया-कलापों=कार्यवाहियाँ, चेष्टाएँ।
३. तत्त्व=सार, निचोड़।
४. आधुनिक=आजकल के।
५. आविष्कार=ईजाद।

—जो काम बल से कराया जाता है, वह कभी प्रबल[1] नही होता। जब तक प्रेम स्वयं घर न बनाए, तब तक घर बनाने वालों का परिश्रम[2] वृथा होता है। दूसरे लोगों को जो काम कष्टकारक प्रतीत होता है, वह प्रेमी को आनन्दमय खेल प्रतीत होता है।

एक बालक बाजार मे खुशी-खुशी सीटी बजाता जा रहा था। पुलिस के सिपाही ने उसे टोका। बालक ने कहा—"क्या मैं सीटी बजा रहा हूँ? वह तो आप से आप बजती है।" कोकिला जैसे ही ऊँचे पेड़ के शिखर पर बैठती है, त्यो उससे मधुर आलाप अपने-आप प्रकट होने लगता है।

इस तुच्छ अहंता[3] को यदि आप अनन्त समुद्र में विलीन कर दे, तो आप पर परमप्रिय की अनुकम्पा[4] होगी—उसकी प्रसन्नता से आप सत्‌चित्‌-आनन्दघन[5] हो जाएँगे। तब आपके अन्तःकरण से स्वतः ही परम कल्याणमय भाव प्रवाहित होने लगेगा, जो वीरतामय कर्मो मे व्यक्त होगा। यही विद्या है, यही पुण्य। यही परमात्मा-प्रेरित जीवन है, यही मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है।

कोलरिज ने कहा है—

—अपने आप से दौड़कर वह धूप मे जा खड़ा होता है तथा किसी पक्षपातपूर्ण दृष्टि के बिना सारी दृष्टि को देखता है, वह सबको प्रेम करता है, सबकी शुभकामनाएँ करता है तथा कहता है—'बहुत उत्तम।'

---

१. प्रबल=जबर्दस्त, महान्।

२. परिश्रम=मेहनत।

३. अहंता=अहंभाव, अभिमान।

४ अनुकम्पा=दया।

५. सत्‌-चित्‌-आनन्दघन=सत्य, चैतन्य, आनन्दमय।

क्या आपको कभी प्रेम में मर-मिटने—नही, नहीं प्रेम मे नि:स्वार्थ[१] भाव होकर ऊपर उठने, प्रेम देवता को अपना सब कुछ समर्पित कर देने का सौभाग्य, सुअवसर हाथ आया है ?

जहाँ प्रेम हो, वहाँ न कोई बड़ा है, न छोटा। न कोई उच्च है, न नीच। प्रेम-भाव से प्रेरित कठोर कार्य भी स्वर्ग के सुखों का दाता बन जाता है।

स्वार्थ भावना ऊँची से ऊँची पदवी को भी कष्टदायी, दु:खदायी बना देती है। जीवन में आपकी भले ही कैसी स्थिति हो, प्रेम उसमें मधुरता ला सकता है।

हम स्वामी बनना चाहते है, यही क्षुद्र[२] भावना हमारे समस्त कष्टों, दु:खो, व्यथाओ तथा चिन्ताओ का कारण होती है।

उठो जागो—ताड के पेड़ की आहों को अपनी आहे समझो। वह तुम्हारे अधर से उत्तर सुनने, तुम्हारे नयनों को देखने के लिए बेचैन है।

सारे लोकाचार[३] तथा कृत्रिम[४] वार्तालाप[५] की शैली से ऊपर उठकर यदि हम अन्त करण की गहरी से गहरी अनुभूतियों के सम्पर्क मे आएँ तो हमें पता चलेगा कि बुद्धिमत्ता की सलाहे, चारित्रिक नियम, प्रमाणित कर्तव्य, निश्चयात्मक आदेश, विधि-निषेध[६] दिखावटी जीवन का अंग है। प्रेम इनसे ऊपर है।

"That which is forced is never forcible."

---

१. नि:स्वार्थ=खुदगर्जी के बिना।
२. क्षुद्र=तुच्छ ओछी।
३. लोकाचार=रीति-रिवाज।
४. कृत्रिम=बनावटी।
५. वार्तालाप=बातचीत।
६. विधि-निषेध=यह न करो, इस प्रकार के कथन।

हाथ को भी दबोचकर खींच सकता है जो चिमटे को दबाकर चला रहा है ? इसी प्रकार स्थान, समय और पदार्थ की यह त्रिमूर्ति[1] समस्त विश्व को दृश्यमान[2] पदार्थ-मात्र को आवृत्त[3] किये हुए है। परन्तु जो शक्ति—आत्मा उसके आधार में है—उसे संचालित[4] करती है, उसे वह त्रिमूर्ति नहीं आवृत्त कर सकती।

एक बार चार व्यक्ति हास्पिटल में भेजे गए। उनके नेत्रो में मोतियाबिन्द था। उन्हे उम्मीद थी कि हास्पिटल मे ऑपरेशन द्वारा उनके नेत्र नीरोग कर दिये जायेगे। मोतियाबिन्द के कारण ये लोग कुदरती तौर पर अन्धे थे। उनकी सिर्फ चार ही इन्द्रियाँ बाकी बची हुई थी।

एक दिन खिडकी के शीशे के बारे में उनमे बहस छिड गई। एक ने कहा—"मेरा पुत्र यूनिवर्सिटी मे विद्यार्थी है, वह एक बार यहाँ आया था। उसने मुझसे कहा था—'कॉच पीला है'।" दूसरे ने कहा—"मेरा चाचा नगरपालिका का सदस्य है। कुछ दिन पूर्व वह यहाँ आया था। उसने मुझसे कहा था कि 'काँच लाल है'। वह बहुत चालाक है तथा उसे सभी बातों का ज्ञान है।" इसके उपरान्त तीसरा बोला—"मेरा एक चचाजाद[5] भाई यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर है। उसने मुझसे कहा था—'काँच हरा है'। अतः वह ठीक ही होगा।"

इस प्रकार कॉच के वर्ण के विषय पर, उनमें वाद-विवाद होता रहा। इसके बाद उन्होने स्वय उसे जानने की कोशिश की कि काँच का वास्तव मे क्या रग है।

---

१ त्रिमूर्ति=तीन मूर्तियो का समूह।
२ दृश्यमान=दिखाई देने वाला।
३. आवृत्त किये=घेरे हुए, आच्छादित किये।
४. सचालित करना=चलाना।
५. चचाजाद=चचा का लडका।

विश्व कब आरम्भ हुआ ?

प्रश्न किया जाता है कि विश्व का आरम्भ[1] कब हुआ ? 'कब' का तात्पर्य[2] है किस काल मे। अतः प्रश्न का यह स्वरूप[3] हुआ— "विश्व का आरम्भ किस काल[4] में हुआ था ?"

जबकि काल स्वयं विश्व का एक अंग है, केवल एक हिस्सा है, तो यह प्रश्न इस रूप मे परिणत[5] हो जाता है कि काल का किस काल मे प्रारम्भ[6] हुआ। संसार कहाँ प्रारम्भ हुआ था ? स्थान अथवा देश कहाँ प्रारम्भ हुआ था ?

एक यह भी सवाल है कि विश्व किस प्रकार आरम्भ हुआ था ? सम्भव है कुछ सूक्ष्म-बुद्धि व्यक्ति इन सवालों के जवाब देने की कोशिश करे। परन्तु राम इस कार्य को उन्हीं के लिए छोड़ देता है। राम अपने आपको इस प्रकार के कार्यो में नही नियोजित कर सकता। कुछ व्यक्ति ऐसे है जो बड़े चाव से अपना समय इन सवालों के जवाब ढूँढ़ने मे व्यतीत[7] करेगे। किन्तु इसका फल क्या होगा ? कुछ दूर आगे जाने पर उन्हे स्वयं ही विवश होकर रुक जाना पड़ेगा मानो पत्थर की दीवार उनकी राह रोके खड़ी हो।

यह एक चिमटा है। चिमटा इस वस्तु को तथा अन्य वस्तुओं को दबाकर उठाने की सामर्थ्य रखता है। परन्तु घूमकर वह क्या उस

---

१ आरम्भ=शुरू।
२. तात्पर्य=अर्थ।
३ स्वरूप=शक्ल।
४. काल=समय।
५. परिणत होना=बदलना।
६. प्रारम्भ=शुरूआत।
७. व्यतीत करना=बिताना।

जिन्हें औरों ने कॉच का रंग बता दिया था, परन्तु वे स्वयं नहीं जानते थे कि वस्तुतः उस कॉच का रंग कैसा था और उन्होंने भ्राता-अथर्वा-पुत्र के कथन पर उसे लाल, पीला आदि स्वीकार कर लिया था।

कहा जाता है कि दो भाग हाइड्रोजन तथा एक भाग आक्सीजन मिलने से जल बन जाता है। क्या इसे मैं वास्तव[1] मे जानता हूँ ? कदापि[2] नही।

हालाँकि सब रसायनशास्त्री[3] यह बतलाते है कि यह एक तथ्य है। परन्तु मै इसे केवल तभी स्वीकार करूँगा, जब प्रयोगशाला मे स्वय इसका परीक्षण करके देख लूँगा। तभी मेरे लिए यह एक सच्चाई—हकीकत होगी। भले ही कृष्ण, ईसा अथवा बुद्ध या कोई भी हो—आप अपने से बाह्य किसी का प्रमाण नही मान सकते। उसका बोध प्राप्त करने के लिए आपको स्वय प्रयोग-परीक्षण करना पडेगा।

आपको भले ही विश्वस्त सूत्र से विदित हुआ हो, उदाहरणतः गुरु से, कि काँच लाल है, फिर भी उसे जानने के लिए आपको खुद उसे देखना पडेगा।

यदि एक नौजवान कहे कि मेरे बाप की पाचन-शक्ति बहुत अच्छी है, मेरे लिए, मेरा खाना हजम कर देगा, तो क्या ऐसा होना सम्भव है ? कदापि नही, पुत्र को अपना भोजन स्वय पचाना होगा।

मै उन महान् आत्माओ को नमस्कार करता हूँ जिन्हे समस्त विश्व मे प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, परन्तु मेरे लिए वे मेरा खाना नही हजम कर सकते। उसे मुझे खुद ही हजम करना पडेगा।

---

१. वास्तव मे=असल मे।
२ कदापि=कभी भी।
३. रसायनशास्त्री=कैमिस्ट्री के पडित।

सबसे पहले उन्होने उस पर जीभ लगाई। उसका स्वाद यानी स जानने का प्रयास[1] किया। परन्तु रंग इस उपाय द्वारा जानना असम्भव[2] था। इसके अनन्तर उन्होने उसे थपथपाकर उसकी आवाज (शब्द) को सुना। परन्तु इस ढग से भी शीशे के वर्ण का बोध न हो सका। उन्होने उसे सूँघने की कोशिश की। वे फिर उसे छूकर देखने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु चखने, सुनने, सूँघने और छूने की (रसना, श्रवण, घ्राण तथा स्पर्श) इन्द्रियाँ उन्हे यह बोध[3] न करा सकी कि किस रग का वह काँच है।

इसी तरह हम भी इन्द्रियो द्वारा अनन्त का बोध नही प्राप्त कर सकते। जरा विचार कीजिए कि यह कैसी असम्भव बात होगी कि यदि आप इन्द्रियों द्वारा 'अनन्त' को ज्ञात कर ले! तब तो अवश्य ही अनन्त[4] को सान्त[5] से छोटा होना पड़ेगा। यह तो महान् अनर्थ होगा।

अनन्त का तो हम विश्वभावना, विश्वानुभूति या ब्रह्मभावना द्वारा ही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। मेरे हाथ में यह माचिस है। माचिस उससे (हाथ से) छोटी है जो उसे पकड़े हुए हैं। इसी प्रकार आप ही विचार कर सकते है कि किस प्रकार अनन्त को सान्त नहीं पकड़ सकता।

इन्द्रियाँ उसे कैसे जान सकती हैं, जो इन्द्रियों का विषय नहीं है। आत्मा के बोध के लिए अपने से बाह्य किसी अन्य पदार्थ का आसरा मत लीजिए। नहीं तो आप की भी दशा उन अन्धों के समान होगी,

---

१. प्रयास=प्रयत्न।

२ असम्भव=नामुमकिन।

३. बोध=ज्ञान।

४. अनन्त=जिसका अन्त नही।

५. सान्त=जिसका अन्त है।

पहुँच सकते है—केवल इतना बोध प्राप्त कर सकते है कि 'अनन्त' की सत्ता है—उसका अस्तित्व है। किन्तु हम यह नही बता सकते कि वह क्या है—उसका स्वरूप क्या है। यह बात ठीक इसी प्रकार है··· कि जिस प्रकार कोई पीछे से आकर मेरी आँखे मीच ले। अब यह तो मुझे मालूम है कि मेरे पीछे कोई है, और जरूरी है कि वह कोई दोस्त-मित्र ही होगा। अन्य कोई अपरिचित ऐसा साहस कभी नही करेगा। किन्तु मै बताने मे असमर्थ[1] हूँ कि वह कौन है ?

या फिर वह दीवार पर गेद फेकने के सदृश[2] है। गेद दीवार तक अवश्य पहुँचेगी, परन्तु वह उछलकर वापस लौट आएगी। 'अनन्त' में बुद्धि का प्रवेश नही है। यदि 'अनन्त' को जानना सम्भव होता, तो आपका 'अद्वैत' द्वैत न हो जाता ! तब न तो ज्ञाता ही 'अनन्त' रहता और न ज्ञेय ही।

विश्वभावना द्वारा हम इसके बोध को प्राप्त कर सकते है ! इस ब्रह्मभावना[3] या विश्वभावना का विकास कैसे होता है ?—सुनिए। सर्वप्रथम राम आपके सम्मुख बच्चे के बारे मे कुछ कहेगा। बच्चे मे ससार का ज्ञान नही होता, और उसमे विच्छिन्नता (व्यक्तिगत अलगाव) का बोध भी नही होता।

यहाँ यह एक छोटा सा बालक है। इसे क्या ज्ञान है ? कुछ भी तो नही। तो क्या उससे हम तब तक बात नही कर सकते, जब तक उसे अपने बारे मे कुछ ज्ञान नही हो जाता ? तब तक बातचीत के लिए क्या हम उसके ज्ञानवान्[4] होने की प्रतीक्षा[5] किया करते है ?

---

१ असमर्थ=अशक्त।

२. सदृश=समान।

३. ब्रह्मभावना=ईश्वर-भावना।

४. ज्ञानवान्=ज्ञान वाला।

५ प्रतीक्षा=इन्तजार।

ईश्वर के साथ अद्वैत[1] का अनुभव वे मुझे नहीं करा सकते। इस निश्चय का अनुभव मुझे स्वय करना पड़ेगा। सत्य का बोध हमें केवल विश्व-भावना अर्थात् विश्वानुभूति[2] द्वारा ही होना सम्भव है।

नास्तिक तथा स्वतन्त्र विचारक[3] दोनो का ही यह कथन है—"मैं खुद खोज करूँगा।" आओ, देखते है कि उनकी पहुँच कहाँ तक है।

एक का कथन है—'प्रकाश इस दियासलाई मे है, हम उसकी खोज कैसे करें' इसके हेतु वह दियासलाई के खण्ड-खण्ड कर डालता है। परन्तु प्रकाश नही प्राप्त होता। वह दियासलाई का चूरा कर डालता है। प्रकाश फिर भी नही मिलता। वह जानता है कि देह में प्राण है, अत देह के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है; परन्तु प्राण नही प्राप्त होता। वह अस्थियो[4] को चूर्ण-विचूर्ण कर देता है, किन्तु प्राण वहाँ भी प्राप्त नही होता। हारकर वह कह उठता है—यदि कोई वास्तविकता है तो आत्मा (मैं) ही है। परन्तु आत्मा तो जानी नही जा सकती।

जहाँ तक वह पहुँच पाता है, वहाँ तक तो ठीक है; परन्तु उसमें अभी तक विश्व-भावना का विकास नही हो पाया, उसने 'अनन्त' का बोध प्राप्त करने के हेतु केवल अपनी विच्छिन्न[5] भावना अथवा जानकारी से काम लिया है। यह भी साफ है कि इस प्रकार वह कदापि उसका बोध[6] नही प्राप्त कर सकता। बुद्धि द्वारा हम अनन्त[7] तक

---

१. अद्वैत=अभेद, एकता।

२. विश्वानुभूति=ससार को अपनी आत्मा समझना।

३. विचारक=विचार करने वाला (Thinker)।

४. अस्थियाँ=हड्डियाँ।

५. विच्छिन्न=औरो से अलग, दूसरो से पृथक्।

६. बोध=ज्ञान।

७. अनन्त=जिसका अन्त नही।

विकसित होता है, जिनमे वह भावना विद्यमान होती है, तथा जो अपने ब्रह्मत्व[1] का अनुभव किया करते है।

यदि आप उदासी तथा खेद का अनुभव प्राप्त करने की इच्छा करते है, तो उनकी सगति मे निवास कीजिए, जो हर समय खिन्नता मे डूबे रहते है। इसके विपरीत, **यदि आप आनन्द की अनुभूति[2] प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं, तो उनकी संगति कीजिए, जिनका जीवन आनन्द एवं उल्लास से पूर्ण है।** भावार्थ यह है कि सिर्फ सत्सग द्वारा ही यह भावना रूपी ज्योति उद्दीप्त[3] होती है। भले ही प्रकृति का सग हो अथवा ज्ञानी महापुरुषो का, प्रबुद्ध महात्माओ के लिखित ज्ञान (ग्रन्थ) से सग हो अथवा उनके उपदेश से। परन्तु केवल सत्सग द्वारा ही ज्ञान रूपी अग्नि उद्दीप्त होती है।

माँ-बाप बच्चे को 'मुन्ना' कह कर पुकारते है, तो वह 'मुन्ना' हो जाता है, इसी प्रकार यदि वे उसे 'राजू' कह कर पुकारे, तो वह 'राज' भी हो सकता है। क्या यही नही होता?

मान लीजिए, एक कमरे के अन्दर तीन-चार बच्चे सोये हुए है। 'मुन्ने' को पुकारा जाता है। अकेला मुन्ना ही उत्तर देता है, 'राजू' नही। बहुत ऊँचे स्वर से पुकारने पर भी मुन्ना ही जागता है, 'राजू' नही। क्योकि 'राजू' को पुकारा नही गया।

जिस मानव को अपनी आत्मा से अभेद[4] की अनुभूति प्राप्त हो गई है, उससे अज्ञान के कारण यह कहा जा सकता है कि तुम घास का एक पत्ता ही बना दो मान ले। प्रश्न पूछने वाले यह भी कहते

---

१. ब्रह्मत्व=ईश्वरत्व।

२. अनुभूति=प्रतीति।

३ उद्दीप्त=तेज की गई, प्रचण्ड की गई।

४ अभेद=अभिन्नता।

जिन इर्द-गिर्द की चीजों से वह घिरा रहता है, उन सबकी जानकारी जब तक बालक को नही हो जाती, तब तक क्या हम रुके रहते हैं और उनकी चर्चा तक उससे नही करते क्या ?

नही ऐसा नही होता। बच्चा जब अभी बहुत छोटा ही होता है, उसी समय उसका नाम रख दिया जाता है। मान लो हम उसे 'मुन्ना' कहा करते है। माँ-बाप अब उस बच्चे को इसी नाम से बुलाने लग जाते है। वे उससे वार्तालाप करते है। वे उससे भिन्न-भिन्न चीजों के बारे मे बाते करते है। वे कहते है—तू बहुत मनोहर है, मनमोहन है, सुन्दर है, प्रिय है। लोग उससे माँ-बाप के बारे में बातचीत करते हैं। जब बच्चा जरा बड़ा हो जाता है, तब वह स्वय अपने चहुँ ओर खेलने लग जाता है। उस समय वह मुँह से ऐसे शब्द करता है, जिनका कुछ अर्थ हमे विदित नही होता, परन्तु बारम्बार अम्मा और बाबा की ध्वनि कान में पडने के कारण वह उन शब्दों का अनुकरण करता है। वह 'अम्मा' जब कहता है, तो उसका पिता उसकी माँ से कहता है—बच्चा तुम्हे पुकार रहा है। इसी प्रकार जब वह 'बा' शब्द कहता है, तो उसकी माँ उसके पिता से कहती है—बच्चा तुम्हे पुकार रहा है। बाप बालक से कहता है—'इधर आओ' क्या बालक इस अर्थ को समझता है ?—नही, वह तो बाप की फैली हुई बाँहों तथा पुचकारने के ढंग से समझता है कि यह पिता का सकेत उसी को पास बुलाने के लिए है।

इस प्रकार हम देखते है कि बालक में अपनी (व्यक्तिगत) परिछिन्नता के भाव का ज्ञान उन व्यक्तियो की संगति से विकसित[1] होने लगता है, जो उसके इर्दगिर्द रहते हैं।

ठीक इसी प्रकार विश्वभावना का ज्ञान उन मनुष्यों के संग से

---

१. विकसित होना=खिलना, उन्नति करना।

है, तथा सम्राट् उसकी पदवी है। अब ये उपाधियाँ अथवा पदवियाँ व्यक्तित्व के लिए बाह्य वस्तुएँ है। मानो कोई चीज ऊपर से टाँक दी गई हो। इसी प्रकार जब आप कहते है—'सर्प काला है'—तब 'कालापन' सर्प नही होता। यह तो सर्प से कोई बाह्य वस्तु है। कालापन सर्प का एक गुण (रग) है। परन्तु जिस समय आप सर्प को कहते है—यह रस्सी है, तब यह सर्वथा भिन्न कथन हो जाता है।

मै महाराजाधिराज हूँ। महाराजाधिराज एक पद है। परन्तु जब आप कहते है—'मै ईश्वर हूँ'—तब आपका आशय क्षुद्र अहं (परिच्छिन्न व्यक्ति) से नही होता। जैसे रस्सी को साँप समझना एक भ्रान्ति है, अज्ञान से आप रस्सी को साँप समझ लेते है—परन्तु यह सच्चाई नही है, वह तो वस्तुत रस्सी ही है। इसी प्रकार यह विच्छिन्न (अन्य सभी से पृथक्) व्यक्तित्व भी भ्राँति ही है। वास्तव मे मै ईश्वर हूँ, ब्रह्म हूँ, परब्रह्म हूँ, नित्य एक हूँ, सर्व[1] मे मै हूँ, मेरी बराबरी का अन्य कोई नही।

दो तरगे है। एक तरग में जिस प्रकार का जल है, उसी प्रकार का जल दूसरी मे है। क्या वह कुछ अलग प्रकार का है? नही, पानी वस्तुत[2] बिल्कुल एक समान है। सारे समुद्र में पानी बिल्कुल एक-सा है। किन्तु यहाँ एक रूप दृष्टिगोचर[3] होता है तथा वहाँ दूसरा। क्या इसमे कोई अन्य आत्मा है तथा उसमे कोई अन्य? नही, कदापि नही। **केवल एक ही आत्मा है, जो सर्व मे एक है, सर्वरूप है। वह अद्वितीय[4] है। ये सभी देहें आत्मा की है। इनमें कोई भिन्नता यानी अन्तर नही है।**

---

१. सर्व=सब।
२. वस्तुत=असल मे।
३ दृष्टिगोचर=दिखाई पडना।
४. अद्वितीय=जिसके समान दूसरा न हो।

रहा करते हैं—"अच्छा देखो। आप तो अपने को ईश्वर कहते है, आप क्या करने में समर्थ[1] है? परमात्मा ने सारे विश्व का निर्माण किया। आप घास का एक पत्ता तक नहीं निर्माण कर सकते। तथापि आप अपने को ईश्वर कहते हैं! मुझे दिखलाइए कि आप क्या करने की सामर्थ्य रखते है?"

क्या ईसा मसीह को भी इसी तरह का लालच नही दिखाया गया था? उसने शैतान के तानो की कुछ भी चिन्ता न की। शैतान ने उस से पर्वत फाँदने के लिए कहा था। परन्तु ईसा मसीह ने उसे डाँट दिया—"तू परे हट जा।" ईसा के पास सारी शक्तियाँ थीं; परन्तु वह अविश्वासी को क्यों चमत्कार करके दिखलाता? असंख्य[2] चमत्कारों से अविश्वासी व्यक्ति को विश्वासी बनाना सम्भव नही। उसे तब तक आत्मा की अनुभूति[3] नही प्राप्त हो सकती, जब तक उसमे समस्त[4] विश्व[5] के साथ अभिन्नता[6] की भावना जाग्रत नही होती।

जिस समय मैं कहता हूँ—"मैं परमात्मा हूँ"—उस समय मेरा क्या अभिप्राय होता है? क्या मेरा तात्पर्य इस तुच्छ व्यक्तित्व (परिच्छिन्न मैं) से होता है? नही, कभी नहीं। इस चित्त से? नहीं, कभी नही। इस तरह समझ लीजिए कि एक व्यक्ति 'शास्त्री' है। उसने यह उपाधि (पदवी) पाई है, मान लीजिए कि एक मनुष्य सम्राट्

---

१. समर्थ=शक्ति वाले।
२ असंख्य=अनगिनती।
३. अनुभूति=प्रतीति, अनुभव।
४. समस्त=सम्पूर्ण।
५. विश्व=संसार।
६. अभिन्नता=अभेद।

करता है। सभी अगो का समुदाय[1] परस्पर तालमेल से युगपद् (एक-साथ) काम करता है।

ठीक इसी तरह जब हम समस्त ससार से अपने-आप को काट कर, अलग हो जाते है, तब हम कष्ट पाते है, दु खी होते है। जब तक मानव को अपनी विश्व व्यापकता (मानव-मात्र से अभिन्नता) का अनुभव नही होता, तब तक उसे शान्ति नही प्राप्त हो सकती।

---

१ समुदाय=समूह।

भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाश को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इंग्लिश में उसे 'लाइट' (light) कहा जाता है, जर्मन भाषा में उसे 'लिच्ट' (licht) कहा जाता है—आदि। प्रत्येक नाम में प्रकाश तो वही है क्या यह तथ्य नहीं? प्रकाश तो सभी जगह वही है—एक है। हालाँकि हम उसे नाना नामों से पुकारते हैं। नामों के कारण आत्मा में कोई अन्तर नही पड़ता। वह आत्मा (ब्रह्म) वस्तुतः सर्वरूप है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

हमारी देह एक सब अगो से पूर्ण इकाई (एकक unit) है। यदि हाथ स्वाधीन रूप मे रहने का निश्चय कर लें, कहें कि मैं काम करके रोटी कमाता हूँ, सारी कमाई का फल मैं ही भोगूँगा, तो किस प्रकार निर्वाह[1] हो सकता है? यदि हाथ यह हठ[2] करे कि मुँह भोजन न खाए तथा पेट उसे न पचाए, सब मे उसे यथोचित[3] न वितरित[4] किया जाय। बल्कि पिचकारी द्वारा मेरे (हाथ के) अन्दर भर दिया जाए, तो बताइए—हाथ की कैसी दशा होगी? कितनी हास्यास्पद बात है। यदि रुपये हाथ के साथ चिपका दिये जाएँ, अथवा ततैया से हाथ को दंश[5] कराया जाए, तो हाथ में सूजन हो जाएगी, उसमे पीडा होने लगेगी। यदि हाथ को काट दिया जाए, तो लगातार कष्ट तथा दर्द रहेगा। कारण, हाथ सम्पूर्ण शरीर का एक भाग (अग) है। यही कारण है कि पेट जब भोजन का पाचन कर लेता है, तो वह हाथ को भी उसका उचित अंश भेज कर, उसका पालन-पोषण

---

१. निर्वाह=गुज़ारा।
२. हठ=ज़िद।
३. यथोचित=जैसा उचित हो।
४. वितरित करना=बाँटना।
५. दंश कराना=डसवाना।

करता है। सभी अगो का समुदाय[1] परस्पर तालमेल से युगपद्-(एक-साथ) काम करता है।

ठीक इसी तरह जब हम समस्त ससार से अपने-आप को काट कर, अलग हो जाते है, तब हम कष्ट पाते है, दु खी होते है। जब तक मानव को अपनी विश्व व्यापकता (मानव-मात्र से अभिन्नता) का अनुभव नही होता, तब तक उसे शान्ति नही प्राप्त हो सकती।

---

१ समुदाय=समूह।